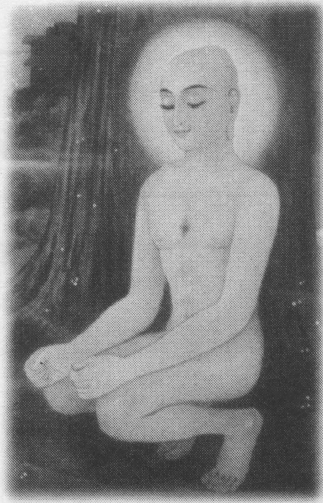


महावीर-वाणी



जिनसूत्र

श्री चन्द्रप्रभ



गणेशाय नमः
श्रीगणेशाय नमः
श्रीगणेशाय नमः



भगवान महावीर की २६०० वीं जन्म-जयंती के पवित्र अवसर पर
जनहितार्थ प्रसारित

जिनसूत्र

स्वस्थ, नैतिक और आध्यात्मिक जीवन की
राह दिखाने वाली प्रकाश-किरण
[महावीर-वाणी]

प्रस्तुति
श्री चन्द्रप्रभ

*

प्रकाशक
श्री जैन श्वे. नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ

प्रेरणा :

गणिवर श्री महिमाप्रभ सागर जी

प्रकाशक :

श्री जैन श्वे. नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ,
पो. मेवानगर, जिला : बाड़मेर (राज.)

प्रकाशन-वर्ष : ६ अप्रेल, २००१

प्रतियाँ : पचास हजार

मूल्य : तीन रुपये

मुद्रक

जयपुर प्रिंटर्स, जयपुर

प्रकाशकीय

भगवान महावीर के २६०० वें जन्म-जयंती-वर्ष पर श्री जैन श्वे. नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ द्वारा 'जिनसूत्र' का प्रकाशन करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता है। जैन-धर्म एक मानवतावादी धर्म है, जिसकी सदैव अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त में आस्था रही है। भगवान महावीर जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर हैं। भगवान महावीर का जीवन दिव्य साधनामय और अतिशय महिमायुक्त रहा है, लेकिन उनके उपदेश और संदेश तो उससे भी अधिक जीवन्त और सकल विश्व के लिए कल्याणकारी रहे। भगवान महावीर के संदेश उनके समय में जितने लाभप्रद सिद्ध हुए, आज के सन्दर्भों में उनकी उपयोगिता और अधिक है।

यद्यपि भगवान महावीर के उपदेश आगमों में संकलित हैं, पर शास्त्रों की प्राचीन भाषा और उनका परिमाण अत्यधिक विस्तृत होने के कारण आम जनमानस की पहुँच के बाहर हैं। आज के सन्दर्भों में एक ऐसे सार-संकलन की आवश्यकता रही, जो भगवान महावीर की मूल जीवन-दृष्टि को उजागर कर सके, आम जनमानस के लिए जीवन जीने की सम्यक् शैली उपलब्ध करवा सके। प्रस्तुत पुस्तक 'जिनसूत्र' भगवान महावीर की वाणी का सुव्यवस्थित सार-संकलन है। यह आगमों का नवनीत है और जन-जन के लिए एक ज्ञानदायी वरदान।

प्रसिद्ध चिन्तक एवं आगम-मर्मज्ञ पूज्य श्री चन्द्रप्रभ जी के प्रति हम अपना आभार समर्पित करते हैं जिन्होंने 'जिनसूत्र' जैसा एक सुन्दर, सरल और सर्वग्राह्य संकलन तैयार किया। इसका नित्य पठन और मनन हमारे लिए धर्म, अध्यात्म और मुक्ति के द्वार खोलेगा।

पूज्य श्री चन्द्रप्रभ जी ने ठीक ही कहा है कि भगवान महावीर की छब्बीससौवीं जन्म-जयंती पर स्वयं भगवान की ही मूल वाणी को प्रकाशित करने से बढ़कर उनके चरणों में समर्पित किया जाने वाला और कौन-सा बेहतरीन पुष्प होगा । नाकोड़ा तीर्थ ट्रस्ट द्वारा 'जिनसूत्र' की पचास हजार प्रतियाँ प्रकाशित की जा रही हैं । हमारा अनुरोध है कि आप स्वयं इस पवित्र पुस्तक का पारायण और मनन करें और कम-से-कम अपनी ओर से इसकी दस प्रतियाँ अपने मित्रों तक पहुँचाएँ ।

श्री जैन श्वे. नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ ट्रस्ट की ओर से जन्म-जयंती-वर्ष पर श्रमण भगवान श्री महावीर स्वामी के चरणों में कोटि-कोटि नमन ।

पारसमल भंसाली,

अध्यक्ष,

श्री जैन श्वे. नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ ट्रस्ट

भूमिका

‘जिनसूत्र’ भगवान् महावीर की पवित्र वाणी का सार-संकलन है । भगवान् के २६०० वें जन्म-जयंती-वर्ष पर उनके श्रीचरण में समर्पित करने के लिए इससे बेहतर निरुपुष्य और कौन-सा हो सकता है ! भगवान् के उपदेश और आदेश तो वर्तमान की आवश्यकता है । जिनसूत्र का पारायण और प्रसारण घर-घर में सदाचार और सद्विचार की गंगा-यमुना पहुँचाने जैसा पुण्यकारी है ।

‘जिनसूत्र’ जैन धर्म का प्रतिनिधि ग्रन्थ है । इसकी संरचना में ‘समण-सुत्त’ को आधार बनाया गया है । ‘समण-सुत्त’ जिन धर्म का सर्वमान्य ग्रन्थ है । ‘समण-सुत्त’ का स्वरूप और अधिक सरल, संक्षिप्त एवं सहज बोधगम्य हो, ‘जिनसूत्र’ की संकलना के पीछे यही भावना रही है ।

‘जिनसूत्र’ में हमारे सामाजिक, नैतिक एवं साधनात्मक जीवन का पथ प्रशस्त हुआ है । इसमें हमारा अपना कुछ नहीं, जो कुछ है वह स्वयं भगवान् की देशना है । भगवान् के सूत्रों पर भूमिका या उपसंहार देने वाला मैं कौन होता हूँ ! भगवान् की वाणी स्वयं ही अपनी भूमिका है । मेरी ओर से इतना ही अनुरोध है कि हम परमात्मा की वाणी का पुनः पुनः स्वाध्याय करें, मनन करें । मनन से मार्ग खुलते हैं । जीवन का पथ इससे स्वतः रूपान्तरित/प्रकाशित होगा ।

भगवान् की वाणी को जीवन में उतारना अपने-आप में उनका मंदिर निर्माण करना है । भगवान् करे ऐसे मंदिर घर-घर बनें, ऐसे दीप घट-घट जलें ।

—चन्द्रप्रभ

विषय-क्रम

१. मंगलसूत्र	९	१८. व्रतसूत्र	४२
२. संसारचक्रसूत्र	११	१९. समिति-गुप्तिसूत्र	४३
३. मिथ्यात्वसूत्र	१२	२०. आवश्यकसूत्र	४७
४. कर्मसूत्र	१३	२१. तपसूत्र	५०
५. राग-परिहारसूत्र	१५	२२. ध्यानसूत्र	५५
६. धर्मसूत्र	१६	२३. अनुप्रेक्षासूत्र	५८
७. अहिंसासूत्र	२०	२४. लेश्यासूत्र	६२
८. संयमसूत्र	२२	२५. गुणस्थानसूत्र	६४
९. अप्रमादसूत्र	२५	२६. संलेखनासूत्र	६८
१०. आत्मसूत्र	२६	२७. निर्वाणसूत्र	७०
११. मोक्षमार्गसूत्र	२८	समापन	७१
१२. रत्नत्रयसूत्र	३०			
१३. सम्यग्दर्शनसूत्र	३२			
१४. सम्यग्ज्ञानसूत्र	३४			
१५. सम्यक् चारित्रसूत्र	३६			
१६. श्रावकधर्मसूत्र	३७			
१७. श्रमणधर्मसूत्र	४०			

१. मङ्गलसूत्र

१. णमो अरिहंताणं । णमो सिद्धाणं । णमो आयरियाणं ।
णमो उवज्जायाणं । णमो लोए सव्वसाहुणं ॥१ ॥
अर्हत्तो को नमस्कार ।
सिद्धो को नमस्कार ।
आचार्यो को नमस्कार ।
उपाध्यायो को नमस्कार ।
लोकवर्ती सर्व साधुओं को नमस्कार ।
२. एसो पंचणमोक्कारो, सव्व पावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥२ ॥
यह पंच नमस्कार सब पापों का नाश करने वाला और समस्त मंगलों में प्रथम मंगल है ।
- ३-५. अरिहंता मंगलं । सिद्धा मंगलं । साहू मंगलं ।
केवलपण्णत्तो धम्मो मंगलं ॥३ ॥
अरिहंता लोगुत्तमा । सिद्धा लोगुत्तमा । साहू लोगुत्तमा ।
केवलपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो ॥४ ॥
अरिहंते सरणं पव्वज्जामि । सिद्धे सरणं पव्वज्जामि ।
साहू सरणं पव्वज्जामि ।
केवलपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि ॥५ ॥

अर्हत् मंगल है । सिद्ध मंगल है । साधु मंगल है ।
 केवलि-प्रणीत धर्म मंगल है ।
 अर्हत् लोकोत्तम है । सिद्ध लोकोत्तम है । साधु लोकोत्तम है ।
 केवलि-प्रणीत धर्म लोकोत्तम है ।
 अर्हत् की शरण लेता हूँ । सिद्धों की शरण लेता हूँ ।
 साधुओं की शरण लेता हूँ ।
 केवलि-प्रणीत धर्म की शरण लेता हूँ ।

६. उसभमजियं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
 पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥६॥
 मैं १. ऋषभ, २. अजित, ३. सम्भव, ४. अभिनन्दन, ५. सुमति, ६. पद्मप्रभु, ७.
 सुपाश्व तथा ८. चन्द्रप्रभु को वन्दन करता हूँ ।
७. सुविहिं च पुप्फदंतं, सीयल सेयंस वासुपुज्जं च ।
 विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥७॥
 मैं ९. सुविधि (पुष्पदन्त), १०. शीतल, ११. श्रेयांस, १२. वासुपूज्य, १३. विमल,
 १४. अनन्त, १५. धर्म, १६. शान्ति को वन्दन करता हूँ ।
८. कुंशुं अरं च मल्लि, मुणिसुव्वयं नमि जिणं च ।
 वंदामि रिट्ठणेमि, पासं तह वड्ढमाणं च ॥८॥
 मैं १७. कुन्धु, १८. अर, १९. मल्लि, २०. मुनिसुव्रत, २१. नमि, २२. अरिष्टनेमि,
 २३. पार्श्व तथा २४. वर्धमान—इन चौबीस तीर्थंकरों को वन्दन करता हूँ ।
९. चंदेसु णिम्लयरा आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।
 सायरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥९॥
 चन्द्र से अधिक निर्मल, सूर्य से अधिक प्रकाशमान और सागर की भाँति गम्भीर
 सिद्ध भगवान् मुझे सिद्धि प्रदान करे ।
१०. जय वीयराय ! जगगुरु ! होउ मम तुह पभावओ भयवं !
 भवणिव्वेओ मग्गाणुसारिया इट्ठफलसिद्धी ॥१०॥
 हे वीतराग ! हे जगद्गुरु ! हे भगवन् ! आपके प्रभाव से मुझे संसार से विरक्ति,

मोक्षमार्ग का अनुसरण तथा इष्टफल की प्राप्ति होती रहे ।

११. जमल्लीणा जीवा, तरंति संसारसायरमणंतं ।
तं सव्वजीवसरणं, णंददु जिणसासणं सुइरं ॥११ ॥
जिसमें लीन होकर जीव अनन्त संसार-सागर को पार कर जाते हैं तथा जो समस्त जीवों के लिए शरणभूत है, वह जिनशासन चिरकाल तक समृद्ध रहे ।

२. संसारचक्रसूत्र

१२. अधुवे असासयम्मि, संसारम्मि दुक्ख-पउराए ।
किं नाम होज्ज तं कम्मयं, जेणाऽहं दुग्गइं न गच्छेज्जा ? ॥१ ॥
अधुव, अशाश्वत और दुःख-बहुल संसार में ऐसा कौन-सा कर्म है, जिससे मैं दुर्गति में न जाऊँ ।
१३. खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा ।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥२ ॥
ये काम-भोग क्षणभर सुख और चिरकाल तक दुःख देने वाले हैं, बहुत दुःख और थोड़ा सुख देने वाले हैं, संसार-मुक्ति के विरोधी और अनर्थों की खान हैं ।
१४. सुट्टुवि मग्गिज्जंतो, कत्थ वि केलीइ नत्थि जह सारो ।
इंदिअविसएसु तहा, नत्थि सुहं सुट्टु वि गविट्ठं ॥३ ॥
बहुत खोजने पर भी जैसे केले के पेड़ में कोई सार दिखाई नहीं देता, वैसे ही इन्द्रिय-विषयों में भी कोई सुख दिखाई नहीं देता ।
१५. जह कच्छुल्लो कच्छुं, कंडयमाणो दुहं मुणइ सुक्खं ।
मोहाउरा मणुस्सा, तह कामदुहं सुहं बिंति ॥४ ॥
खुजली का रोगी जैसे खुलजाने पर दुःख को भी सुख मानता है, वैसे ही मोहातुर मनुष्य कामजन्य दुःख को सुख मानता है ।
१६. जाणिज्जइ चिन्तिज्जइ, जम्मजरामरणसंभवं दुक्खं ।
न य विसएसु विरज्जई, अहो सुबद्धो कवडगंठी ॥५ ॥

जीव जन्म, जरा (बुढ़ापा) और मरण से होने वाले दुःख को जानता है, उसका विचार भी करता है, किन्तु विषयों से विरक्त नहीं हो पाता। अहो ! माया की गाँठ कितनी सुदृढ़ होती है।

१७. जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य ।

अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जंतवो ॥६ ॥

जन्म दुःख है, जरा दुःख है, रोग और मृत्यु दुःख है। अहो ! संसार दुःख ही है, जिसमें जीव क्लेश पा रहे हैं।

३. मिथ्यात्वसूत्र

१८. हा ! जह मोहियमइणा, सुग्गइमग्गं अजाणमाणेणं ।

भीमे भवकंतारे, सुचिरं भमियं भयकरम्मि ॥१ ॥

हा ! खेद है कि सुगति का मार्ग न जानने के कारण मैं मूढ़मति भयानक तथा घोर भव-वन में चिरकाल तक भ्रमण करता रहा।

१९. मिच्छन्तं वेदंतो जीवो, विवरीयदंसणो होइ ।

ण य धम्मं रोचेदि हु, महुरं पि रसं जहा जरिदो ॥२ ॥

जो जीव मिथ्यात्व से ग्रस्त होता है उसकी दृष्टि विपरीत हो जाती है। उसे धर्म भी रुचिकर नहीं लगता, जैसे ज्वरग्रस्त मनुष्य को मीठा रस भी अच्छा नहीं लगता।

२०. मिच्छन्तपरिणदप्पा, तिक्कसाएण सुट्टु आविट्ठो ।

जीवं देहं एक्कं, मण्णंतो होदि बहिरप्पा ॥३ ॥

मिथ्यात्वग्रस्त जीव तीव्र कषाय से आविष्ट होकर जीव और शरीर को एक मानता है। वह बहिरात्मा है।

२१. जो जहवायं न कुणइ, मिच्छादिट्ठी तओ हु को अन्ना ।

वड्डइ य मिच्छन्तं, परस्स संकं जणेमाणो ॥४ ॥

जो तत्त्व-विचार के अनुसार नहीं चलता, उससे बड़ा मिथ्यादृष्टि दूसरा कौन हो सकता है? वह दूसरों को शंकाशील बनाकर अपने मिथ्यात्व को बढ़ाता रहता है।

४. कर्मसूत्र

२२. जं जं समयं जीवो, आविसइ जेण जेण भावेण ।
सो तंमि तंमि समए, सुहासुहं बंधए कम्मं ॥१ ॥
जिस समय जीव जैसे भाव करता है, वह उस समय वैसे ही शुभ-अशुभ कर्मों का बन्ध करता है ।
२३. न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ, न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा ।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं, कत्तारमेव अणुजाइ कम्म ॥२ ॥
जाति, मित्र-वर्ग, पुत्र और बान्धव उसका दुःख नहीं बँटा सकते । वह स्वयं अकेला दुःख का अनुभव करता है । क्योंकि कर्म कर्ता का अनुगमन करता है ।
२४. कम्मं चिणंति सवसा, तस्सुदयम्मि उ परव्वसा होंति ।
रुक्खं दुरुहइ सवसो, विगलइ स परव्वसो तत्तो ॥३ ॥
जीव कर्म बाँधने में स्वतंत्र है, परन्तु उस कर्म का उदय होने पर भोगने में उसके अधीन हो जाता है । जैसे कोई पुरुष स्वेच्छा से वृक्ष पर तो चढ़ जाता है, किन्तु प्रमादवश नीचे गिरते समय परवश हो जाता है ।
२५. कम्मवसा खलु जीवा, जीववसाइं कर्हिचि कम्माइं ।
कत्थइ धणिओ बलवं, धारणिओ कत्थइ बलवं ॥४ ॥
कहीं जीव कर्म के अधीन होते हैं तो कहीं कर्म जीव के अधीन होते हैं । जैसे कहीं ऋण देते समय तो धनी बलवान् होता है तो कहीं ऋण लौटाते समय कर्जदार बलवान् होता है ।
२६. कम्मं पुण्णं पावं, हेऊ तेसिं च होंति सच्छिदरा ।
मंदकसाया सच्छा, तिक्कसाया असच्छा हु ॥५ ॥
कर्म दो प्रकार का है—पुण्यरूप और पापरूप । पुण्यकर्म के बन्ध का हेतु स्वच्छ या शुभभाव है और पाप कर्म के बन्ध का हेतु अस्वच्छ या अशुभ भाव है । मन्दकषायी जीव शुभ भाव वाले होते हैं तथा तीव्र कषायी जीव अशुभ भाव वाले ।

२७. रागद्वोसपमतो, इंदियवसओ करेइ कम्माइं ।
 आसवदारेहिं अवि-गुहेहिं तिविहेण करणेणं ॥६ ॥
 राग-द्वेष से प्रमत्त बना जीव इन्द्रियाधीन होता है । उसके आस्रवद्वार (कर्मद्वार) बराबर खुले रहने के कारण मन-वचन-काया के द्वारा निरन्तर कर्म करता रहता है ।
२८. आसवदारेहिं सया, हिंसाईएहिं कम्ममासवइ ।
 जह नावाइ विणासो, छिदेहिं जलं उयहिमज्जे ॥७ ॥
 हिंसा आदि आस्रवद्वारों से सदा कर्मों का आस्रव (आगमन) होता रहता है, जैसे कि समुद्र में जल के आने से छिद्र-युक्त नौका डूब जाती है ।
२९. संधियच्छिद्दसहस्से, जलजाणे जह जलं तु णासवदि ।
 मिच्छन्ताइ-अभावे, तह जीवे संवरो होइ ॥८ ॥
 जैसे जलयान के हजारों छेद बन्द कर देने पर उसमें पानी प्रवेश नहीं करता, वैसे ही मिथ्यात्व आदि के दूर हो जाने पर जीव में संवर (कर्म-निरोध) होता है ।
३०. सव्वभूयऽप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ ।
 पिहियासवस्स दंतस्स, पावं कम्मं न बंधईं ॥९ ॥
 जो समस्त प्राणियों को आत्मवत् देखता है और जिसने कर्मास्रव के सारे द्वार बन्द कर दिये हैं, उस संयमी को पापकर्म का बन्ध नहीं होता ।
३१. सेणावइमि णिहए, जहा सेणा पणस्सई ।
 एवं कम्माणि णस्संति, मोहणिज्जे खयं गए ॥१० ॥
 जैसे सेनापति के मारे जाने पर सेना नष्ट हो जाती है, वैसे ही एक मोहनीय कर्म के क्षय होने पर समस्त कर्म सहज ही नष्ट हो जाते हैं ।
- ३२-३३. नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा ।
 वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥११ ॥
 नामकम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य ।
 एवमेयाइं कम्माइं, अट्टेव उ समासओ ॥१२ ॥

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम (देह-भेद), गोत्र (कुलभेद) और अन्तराय—संक्षेप में ये आठ कर्म हैं ।

५. राग-परिहारसूत्र

३४. रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति ।
 कम्मं च जाई मरणस्स मूलं, दुक्खं च जाईमरणं वयंति ॥१॥
 राग और द्वेष कर्म के बीज हैं । कर्म मोह से उत्पन्न होता है । वह जन्म-मरण का मूल है । जन्म-मरण को दुःख का मूल कहा गया है ।
३५. न वि तं कुणइ अमित्तो, सुट्ठु वि य विराहिओ समत्थो वि ।
 जं दो वि अनिग्गहिया, करंति रागो य दोसो य ॥२॥
 अत्यन्त तिरस्कृत समर्थ शत्रु भी उतनी हानि नहीं पहुँचाता, जितनी अनिगृहीत/अनियंत्रित राग और द्वेष पहुँचाते हैं ।
३६. न य संसारम्मि सुहं, जाइजरामरणदुक्खगहियस्स ।
 जीवस्स अत्थि जम्हा, तम्हा मुक्खो उवादेओ ॥३॥
 इस संसार में जन्म, जरा और मरण के दुःख से ग्रस्त जीव को कोई सुख नहीं है । अतः मोक्ष ही उपादेय है ।
३७. जइ तं इच्छसि गंतुं, तीरं भवसायरस्स घोरस्स ।
 तो तवसंजमभंडं, सुविहिय ! गिण्हार्हि तूरंतो ॥४॥
 यदि तू घोर भवसागर के पार जाना चाहता है, तो हे सुविहित ! शीघ्र ही तप-संयम रूपी नौका को ग्रहण कर ।
३८. कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं, सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।
 जं काइयं माणसियं च किंचि, तस्संतगं गच्छइ वीयरारो ॥५॥
 सर्व लोक और देवताओं का जो कुछ कायिक और मानसिक दुःख है, वह काम-भोगों की सतत अभिलाषा से उत्पन्न होता है । वीतरागी उस दुःख का अन्त पा जाता है ।

३९. जेण विरागो जायइ, तं तं सव्वायरेण करणिज्जं ।
मुच्चइ हु ससंवेगी, अणंतवो होइ असंवेगी ॥६ ॥
जिससे विराग उत्पन्न होता है, उसका आदरपूर्वक आचरण करना चाहिए ।
विरक्त व्यक्ति संसार-बन्धन से छूट जाता है और आसक्त व्यक्ति का संसार
अनन्त होता जाता है ।

४०. एवं ससंकप्पविकप्पणासुं, संजायई समयमुवट्टियस्स ।
अत्थे य संकप्पयओ तओ से, पहीयए कामगुणेसु तण्हा ॥७ ॥
'राग-द्वेषमूलक संकल्प-विकल्प ही सब दोषों के मूल हैं, इन्द्रिय-विषय
नहीं'—जो इस प्रकार का संकल्प करता है, उसके मन में समता उत्पन्न होती
है । उससे उसकी काम-गुणों में होने वाली तृष्णा क्षीण हो जाती है ।

४१. भावे विरत्तो मणुओ विसोगो, एण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणी-पलासं ॥८ ॥
भाव से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है । जैसे कमलिनी का पत्र जल में
लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह संसार में रहकर भी दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं
होता ।

४२. समिक्ख पंडिए तम्हा, पासजाइपहे बहू ।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्तिं भूएसु कप्पए ॥९ ॥
इसलिए ज्ञानी अनेकविध पाश या बन्धनों की, जो कि जन्म-मरण के कारण हैं,
समीक्षा करके स्वयं सत्य की खोज करे और सब प्राणियों के प्रति मैत्री-भाव
रखें ।

६. धर्मसूत्र

४३. धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मो सया मणो ॥११ ॥
धर्म उत्कृष्ट मंगल है । अहिंसा, संयम और तप उसके लक्षण हैं । जिसका मन
सदा धर्म में रमा रहता है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं ।

४४. उत्तमखममहवज्जव-सच्चसउच्चं च संजमं चेव ।
 तवचागमकिंचण्हं, बह् इदि दसविहो धम्मो ॥२ ॥
 उत्तम क्षमा, मार्दव (मृदुता), आर्जव (सरलता), सत्य, शौच (पवित्रता), संयम, तप,
 त्याग, आर्किचन्य (अपरिग्रह) तथा ब्रह्मचर्य—ये दस धर्म हैं ।
४५. खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
 मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं ण केण वि ॥३ ॥
 मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ । सब जीव मुझे क्षमा करें । मेरा सब प्राणियों
 के प्रति मैत्रीभाव है । मेरा किसी से भी वैर नहीं है ।
४६. जइ किंचि पमाणं, न सुट्टु भे वट्टियं माए पुव्वि ।
 तं मे खामेमि अहं, निस्सल्लो निक्कसाओ अ ॥४ ॥
 किंचित् प्रमादवश यदि मेरे द्वारा आपके प्रति उचित व्यवहार नहीं किया गया
 हो तो मैं निःशल्य और कषाय-रहित होकर आपसे क्षमा-याचना करता हूँ । (यह
 क्षमा-धर्म है ।)
४७. कुलरूवजादिबुद्धिसु, तवसुदसीलेसु गारवं किंचि ।
 जो णवि कुव्वदि समणो, महवधम्मं हवे तस्स ॥५ ॥
 जो कुल, रूप, जाति, ज्ञान, तप, श्रुत और शील का किंचित् भी गर्व नहीं करता,
 उसके मार्दव-धर्म होता है ।
४८. जो चित्तेइ ण वंके, ण कुणदि वंके ण जंपदे वंके ।
 ण य गोवदि णियदोसं, अज्जव-धम्मो हवे तस्स ॥६ ॥
 जो कुटिल विचार नहीं करता, कुटिल कार्य नहीं करता, कुटिल वचन नहीं बोलता
 और अपने दोषों को नहीं छिपाता, उसके आर्जव-धर्म होता है ।
४९. परसंतावयकारण-वयणं, मोत्तूण सपरहिदवयणं ।
 जो वददि भिक्खु तुरियो, तस्स दु धम्मो हवे सच्चं ॥७ ॥
 जो दूसरों को सन्ताप पहुँचाने वाले वचनों का त्याग करके स्व-पर-हितकारी
 वचन बोलता है, उसके सत्य-धर्म होता है ।

५०. पत्थं हिदयाणिटुं पि, भण्णमाणस्स सगणवासिस्स ।
 कडुगं व ओसहं तं, महुरविवायं हवइ तस्स ॥८ ॥
 अपने गणवासी (साथी) द्वारा कही हुई हितकर बात, भले ही वह मन को प्रिय न
 लगे, पर कटुक औषध की भाँति परिणाम में मधुर ही होती है ।
५१. विस्ससणिज्जो माया व, होइ पुज्जो गुरु व्व लोअस्स ।
 सयणु व्व सच्चवाई, पुरिसो सव्वस्स होइ पिओ ॥९ ॥
 सत्यवादी मनुष्य माता की तरह विश्वसनीय, जनता के लिए गुरु की तरह पूज्य
 और स्वजन की भाँति सबको प्रिय होता है ।
५२. सच्चम्मि वसदि तवो, सच्चम्मि संजमो तह वसे सेसा वि गुणा ।
 सच्चं णिबंधणं हि य, गुणाणमुदधीव मच्छाणं ॥१० ॥
 सत्य में तप, संयम और शेष समस्त गुणों का वास होता है । जैसे समुद्र मत्स्यों
 का कारण (उत्पत्ति-स्थान) है, वैसे ही सत्य समस्त गुणों का कारण है ।
५३. जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्डई ।
 दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥११ ॥
 जैसे-जैसे लाभ होता है, वैसे-वैसे लोभ होता है । लाभ से लोभ बढ़ता है । दो
 माशा सोने से निष्पन्न होने वाला कार्य तृष्णा के कारण करोड़ों स्वर्ण-मुद्राओं से
 भी पूरा नहीं होता ।
५४. सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया ।
 नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ॥१२ ॥
 कदाचित् सोने और चाँदी के कैलास के समान असंख्य पर्वत हो जायें, तो भी
 लोभी पुरुष को उनसे तृप्ति नहीं होती, क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनन्त
 है ।
५५. समसंतोसजलेणं, जो धोवदि तिव्व-लोहमल-पुंजं ।
 भोयण-गिद्धि-विहीणो, तस्स सउच्चं हवे विमलं ॥१३ ॥
 जो समता और सन्तोष रूपी जल से तीव्र लोभ रूपी मल-समूह को धोता है
 और जिसमें भोजन-लिप्सा नहीं है, उसके विमल शौचधर्म होता है ।

५६. वय-समिदि-कसायाणं, दंडाणं तह इंदिआणं पंचणहं ।
 धारण-पालण-णिग्गह-चाय-जओ संजमो भणिओ ॥१४ ॥
 व्रत-धारण, समिति-पालन अर्थात् सम्यक् प्रवृत्ति, कषाय-निग्रह, मन-वचन-काया
 की प्रवृत्तिरूप दण्ड अर्थात् हिंसा का त्याग और पंचेन्द्रिय-जय—इन सबको
 संयम कहा जाता है ।
५७. विसयकसाय-विणिग्गहभावं, काऊण झाणसज्झाए ।
 जो भावइ अप्पाणं, तस्स तवं होदि णियमेण ॥१५ ॥
 इन्द्रिय-विषयों तथा कषायों का निग्रह कर ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा जो
 आत्मा को भावित करता है, उसके तपधर्म होता है ।
५८. जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठि कुव्वइ ।
 साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥१६ ॥
 त्यागी वही कहलाता है, जो कान्त और प्रिय भोग उपलब्ध होने पर उनकी ओर
 से पीठ फेर लेता है और स्वाधीनतापूर्वक भोगों का त्याग करता है ।
५९. अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सदाऽरूवी ।
 ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि, अण्णं परमाणुमित्तं पि ॥१७ ॥
 मैं एक, शुद्ध, दर्शन-ज्ञानमय, नित्य और अरूपी हूँ । इसके अतिरिक्त अन्य
 परमाणु मात्र भी वस्तु मेरी नहीं है । यह आकिंचन्य-धर्म है ।
६०. जीवो बंभ जीवम्मि, चेव चरिया हविज्ज जा जदिणो ।
 तं जाण बंभचेरं, विमुक्क परदेहतित्तिस्स ॥१८ ॥
 जीव ही ब्रह्म है । देहासक्ति से मुक्त व्यक्ति की ब्रह्म के लिए जो चर्या है, वही
 ब्रह्मचर्य है ।
६१. जहा पोम्मं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ।
 एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥१८ ॥
 जिस प्रकार जल में उत्पन्न हुआ कमल जल से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार
 काम-भोग के वातावरण में उत्पन्न हुआ जो मनुष्य उससे लिप्त नहीं होता, उसे
 हम ब्राह्मण कहते हैं ।

६२. तेल्लोक्काड-विडहणो, कामग्गी विसयरुक्ख-पज्जलिओ ।
जोव्वण-तणिल्लचारी, जं ण डहइ सो हवइ धण्णो ॥२० ॥
विषय रूपी वृक्षों से प्रज्वलित कामाग्नि तीनों लोक रूपी अटवी को जला देती है । यौवन रूपी तृण पर संचरण करने में कुशल कामाग्नि जिस महात्मा को नहीं जलाती, वह धन्य है ।
६३. जा जा वज्जई रयणी, न सा पडिनियत्तई ।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ ॥२१ ॥
जो-जो रात बीत रही है, वह लौटकर नहीं आती । अधर्म करने वाले की रात्रियाँ निष्फल चली जाती हैं ।
६४. जरा जाव न पीलेइ, वाही जाव न वडुई ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥२२ ॥
इसलिए जब तक बुढ़ापा नहीं सताता, व्याधियाँ नहीं बढ़तीं और इन्द्रियाँ अशक्त नहीं हो जातीं, तब तक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए ।

७. अहिंसासूत्र

६५. एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ कंचण ।
अहिंसासमयं चेव, एतावंते वियाणिया ॥१ ॥
ज्ञानी होने का सार यही है कि किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो । इतना जानना ही पर्याप्त है कि समत्वभाव ही अहिंसा है ।
६६. सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥२ ॥
सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना नहीं । इसलिए प्राणवध को भयानक जानकर निर्ग्रन्थ/विवेकशील पुरुष उसका वर्जन करते हैं ।
६७. जह ते न पिअं दुक्खं, जाणिअ एमेव सव्वजीवाणं ।
सव्वायरमुवउत्तो, अत्तोवम्मेण कुणसु दयं ॥३ ॥

जैसे तुम्हें दुःख प्रिय नहीं है, वैसे ही सब जीवों को दुःख प्रिय नहीं है—ऐसा जानकर, पूर्ण आदर और सावधानीपूर्वक, आत्मौपम्य की दृष्टि से सब पर दया करो ।

६८. जीववहो अप्यवहो, जीवदया अप्पणो दया होइ ।
ता सव्वजीवहिंसा, परिचत्ता अत्तकामेहिं ॥४ ॥
जीव का वध अपना ही वध है । जीव की दया अपनी ही दया है । अतः आत्महितैषी पुरुषों ने सभी तरह की जीव-हिंसा का परित्याग किया है ।
६९. तुमं सि नाम स चेव, जं हंतव्वं ति मन्नसि ।
तुमं सि नाम स चेव, जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि ॥५ ॥
जिसे तू हनन योग्य मानता है, वह तू ही है । जिसे तू आज्ञा में रखने योग्य मानता है, वह भी तू ही है ।
७०. रागादीणमणुप्पाओ, अहिंसकत्तं ति देसियं समए ।
तेसिं चे उप्पत्ती, हिंसेत्ति जिणेहि णिद्धिद्धा ॥६ ॥
जिनेश्वरदेव ने कहा है—राग आदि की उत्पत्ति न होना अहिंसा है और उनकी उत्पत्ति होना हिंसा ।
७१. अज्झवसिएण बंधो, सत्ते मारेज्ज मा थ मारेज्ज ।
एसो बंधसमासो, जीवाणं णिच्छर्यणयस्स ॥७ ॥
हिंसा करने के अन्धवसाय (विचार या भाव) से ही कर्म का बंध होता है, फिर कोई जीव मरे या न मरे । निश्चयनय के अनुसार संक्षेप में जीवों के कर्म-बंध का यही स्वरूप है ।
७२. हिंसादो अविरमणं, वह-परिणामो य होइ हिंसा हु ।
तम्हा पमत्तजोगो, पाणव्ववरोवओ णिच्चं ॥८ ॥
हिंसा से विरत न होना और हिंसा का परिणाम रखना हिंसा ही है । इसलिए प्रमाद का योग नित्य-प्राणघातक है ।

७३. अत्ता चेव अहिंसा, अत्ता हिंसति णिच्छओ समए ।
जो होदि अप्पमत्तो, अहिंसगो हिंसगो इदरो ॥९ ॥
आत्मा ही अहिंसा है और आत्मा ही हिंसा है—यह सिद्धान्त का निश्चय है ।
जो अप्रमत्त है वह अहिंसक है और जो प्रमत्त है वह हिंसक है ।
७४. तुंगं न मंदराओ, आगासाओ विसालयं नत्थि ।
जह तह जंयमि जाणसु, धम्ममहिंसासमं नत्थि ॥१० ॥
जैसे जगत् में मेरु-पर्वत से ऊँचा और आकाश से विशाल और कुछ नहीं है,
वैसे ही अहिंसा के समान कोई धर्म नहीं है ।
७५. अभयं पत्थिवा ! तुब्भं, अभयदाया भवाहि य ।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि ॥११ ॥
पार्थव ! तुझे अभय है और तू भी अभयदाता बन । इस अनित्य जीव-लोक में
तू क्यों हिंसा में आसक्त हो रहा है ?
७६. जं इच्छसि अप्पणतो, जं च ण इच्छसि अप्पणतो ।
तं इच्छ परस्स वि या, एत्तियगं जिणसासणं ॥१२ ॥
जो तुम अपने लिए चाहते हो, वही दूसरों के लिए भी चाहो । जो तुम अपने लिए
नहीं चाहते, वह दूसरों के लिए भी मत चाहो । यही जिनशासन है—तीर्थकर
का उपदेश है ।

८. संयमसूत्र

७७. अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वणं ॥१ ॥
आत्मा ही वैतरणी नदी है । आत्मा ही कूटशाल्मली वृक्ष है । आत्मा ही कामदुहा
धेनु है और आत्मा ही नन्दनवन है ।
७८. अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ ॥२ ॥
आत्मा ही सुख-दुःख का कर्ता और विकर्ता (भोक्ता) है । सत्त्वृत्ति में स्थित

आत्मा ही अपना मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही अपना शत्रु है ।

७९. एगप्या अजिए सत्तू, कसाया इंदियाणि य ।

ते जिणित्तु जहानायं, विहरामि अहं मुणी ! ॥३ ॥

अविजित एक अपनी आत्मा ही शत्रु है । अविजित कषाय और इन्द्रियाँ शत्रु हैं ।
हे मुने ! मैं उन्हें जीतकर यथान्याय विचरण करता हूँ ।

८०. जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।

एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥४ ॥

जो दुर्जेय संग्राम में हजारों-हजार योद्धाओं को जीतता है, उसकी अपेक्षा जो एक
अपने को जीतता है, उसकी विजय परमविजय है ।

८१. अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुदमो ।

अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य ॥६ ॥

स्वयं पर ही विजय प्राप्त करना चाहिए । अपने पर विजय प्राप्त करना ही कठिन
है । आत्म-विजेता ही इस लोक और परलोक में सुखी होता है ।

८२. वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य ।

माऽहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहि य ॥७ ॥

उचित यही है कि मैं स्वयं ही संयम और तप के द्वारा अपने पर विजय प्राप्त
करूँ । बन्धन और वध के द्वारा दूसरों से मैं दमित-प्रताड़ित किया जाऊँ, यह
उचित नहीं है ।

८३. एगओ विरई कुज्जा, एगओ य पवत्तणं ।

असंजमे नियतिं च, संजमे य पवत्तणं ॥८ ॥

एक ओर से निवृत्ति और दूसरी ओर से प्रवृत्ति करनी चाहिए—असंयम से
निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति ।

८४. रागे दोसे य दो पावे, पावकम्म पवतणे ।

जे भिव्वखू रुंभई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥९ ॥

राग और द्वेष—ये दो पाप पापकर्म के प्रवर्तक हैं । जो सदा इनका निरोध करता

है वह संसार-मंडल से मुक्त हो जाता है ।

८५. अणथोवं वणथोवं, अग्गीथोवं कसायथोवं च ।

न हु भे वीससियव्वं, थोवं पि हु तं बहु होइ ॥१० ॥

ऋण को थोड़ा, घाव को छोटा, आग को तनिक और कषाय को अल्प मान, विश्वस्त होकर नहीं बैठ जाना चाहिए । क्योंकि ये थोड़े भी बढ़कर बहुत हो जाते हैं ।

८६. कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।

माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो ॥११ ॥

क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, मान विनय को नष्ट करता है, माया मैत्री को नष्ट करती है और लोभ सब कुछ नष्ट करता है ।

८७. उवसमेण हणे कोहं, माणं महवया जिणे ।

मायं चऽज्जवभावेण, लोहं संतोसओ जिणे ॥१२ ॥

क्षमा से क्रोध का हनन करें, मार्दव (मृदुता) से मान को जीतें, आर्जव (सरलता) से माया और सन्तोष से लोभ को जीतें ।

८८. जहा कुम्मे सअंगाई, सए देहे समाहरे ।

एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥१३ ॥

जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने शरीर में समेट लेता है, वैसे ही मेधावी पुरुष पापों को अध्यात्म के द्वारा समेट लेता है ।

८९. से जाणमजाणं वा, कट्टुं आहम्मिअं पयं ।

संवरे खिप्पमप्पाणं, बीय तं न समायरे ॥१४ ॥

जान या अनजान में कोई अधर्म कार्य हो जाय तो अपनी आत्मा को उससे तुरन्त हटा लेना चाहिए, फिर दूसरी बार वह कार्य न किया जाये ।

९०. धम्मारामे चरे भिक्खू, धिइमं धम्मसारही ।

धम्मारामए दंते, बंभचेर-समाहिए ॥१५ ॥

धैर्यवान्, धर्म के रथ को चलाने वाला, धर्म के आराम में रत, दान्त और ब्रह्मचर्य

में चित्त का समाधान पाने वाला भिक्षु धर्म के आराम में विचरण करे ।

११. सव्वगंथविमुक्को, सीईभूओ पसंतचित्तो अ ।
जं पावइ मुत्तिसुहं, न चक्कवट्ठी वि तं लहइ ॥१६ ॥
सम्पूर्ण ग्रन्थियों से मुक्त, शीतीभूत और प्रसन्नचित्त व्यक्ति जैसा मुक्तिसुख पाता है वैसा सुख चक्रवर्ती को भी नहीं मिलता ।

९. अप्रमादसूत्र

१२. सीतंति सुवंताणं, अत्था पुरिसाण लोगसारत्था ।
तम्हा जागरमाणा, विधुण्णध पोरणयं कम्मं ॥१ ॥
जो पुरुष सोते हैं उनके जगत् में सारभूत अर्थ नष्ट हो जाते हैं । अतः सतत आत्म-जागृत रहकर पूर्वार्जित कर्मों को नष्ट करो ।
१३. जागरिया धम्मीणं, अहम्मीणं च सुत्तया सेया ।
वच्छाहिवभगिणीए, अकहिंसु जिणो जयंतीए ॥२ ॥
'धार्मिकों का जागना श्रेयस्कर है और अधार्मिकों का सोना'—ऐसा भगवान् महावीर ने वत्सदेश के राजा शतानीक की बहन जयन्ती से कहा था ।
१४. सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी, न वीससे पण्डिए आसुपण्णे ।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं, भारंड-पक्खी व चरेऽप्यमत्तो ॥३ ॥
आशुप्रज्ञ पंडित सोये हुए व्यक्तियों के बीच भी जागृत रहे । प्रमाद में विश्वास न करे । मुहूर्त घोर निर्दयी होते हैं । शरीर दुर्बल है, इसलिए वह भारण्ड पक्षी की भाँति अप्रमत्त होकर विचरण करे ।
१५. पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहाऽवरं ।
तब्भावादेसओ वावि, बालं पंडियमेव वा ॥४ ॥
प्रमाद को कर्म कहा है और प्रमाद को अकर्म । प्रमाद के होने से मनुष्य बाल होता है, प्रमाद के न होने से पंडित ।

१६. न कम्मुणा कम्म खवेति बाला, अकम्मुणा कम्म खवेति धीरा ।
मेधाविणो लोभमया वतीता, संतोसिणो नो पकरेति पावं ॥५ ॥
अज्ञानी साधक कर्म के द्वारा कर्म का क्षय नहीं कर सकते । धीर-पुरुष अकर्म (संयम) के द्वारा कर्म का क्षय करते हैं । मेधावी पुरुष लोभ और मद से अतीत तथा सन्तोषी होकर पाप नहीं करते ।
१७. सव्वओ पमत्तस्स भयं,
सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं ॥६ ॥
प्रमत्त को सब ओर से भय होता है । अप्रमत्त को कोई भय नहीं होता ।
१८. नाऽऽलस्सेण समं सुक्खं, न विज्जा सह निद्दया ।
न वेरगं ममत्तेणं, नारंभेण दयालुया ॥७ ॥
आलसी सुखी नहीं हो सकता, निद्रालु विद्याभ्यासी नहीं हो सकता, ममत्व रखने वाला वैराग्यवान नहीं हो सकता और हिंसक दयालु नहीं हो सकता ।
१९. जागरह नरा ! णिच्चं, जागरमाणस्स वड्डुते बुद्धी ।
जो सुवति ण सो धन्नो, जो जग्गति सो सया धन्नो ॥८ ॥
अतः मनुष्यो ! सतत जागृत रहो । जो जागता है उसकी बुद्धि बढ़ती है । जो सोता है वह धन्य नहीं है; धन्य वह है, जो सदा जागता है ।
१००. आदाणे णिक्खेवे, वोसिरणे ठाणगमणसयणेसु ।
सव्वत्थ अप्पमत्तो, दयावरो होदु हु अहिंसओ ॥९ ॥
वस्तुओं को उठाने-रखने में, मल-मूत्र का त्याग करने में, बैठने तथा चलने-फिरने में, और शयन करने में जो दयालु पुरुष सदा अप्रमादी अर्थात् विवेकशील रहता है, वह निश्चय ही अहिंसक है ।

१०. आत्मसूत्र

१०१. जीवा हं वति तिविहा, बहिरप्पा तह य अंतरप्पा य ।
तच्चाण परं तच्चं, जीवं जाणेह णिच्छयदो ॥१ ॥

जीव (आत्मा) तीन प्रकार का है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ।
परमात्मा के दो प्रकार हैं—अर्हत् और सिद्ध ।

१०२. आरुहवि अंतरप्पा, बहिरप्पो छंडिऊण तिविहेण ।

झाइज्जइ परमप्पा, उवइट्टं जिणवरिदिहिं ॥२॥

जिनेश्वरदेव का कथन है कि तुम मन, वचन और काया से बहिरात्मा को छोड़कर, अन्तरात्मा में आरोहण कर परमात्मा का ध्यान करो ।

१०३. णिहंडो णिहंदो, णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो ।

णीरागो णिहोसो, णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा ॥३॥

आत्मा वचन-वचन-कायरूप त्रिदंड से रहित, निर्द्वन्द्व, निर्मम—ममत्वरहित, निष्कल—शरीररहित, निरालम्ब, रागरहित, निर्दोष, मोहरहित तथा निर्भय है ।

१०४. णिगंगथो णीरागो, णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मूक्को ।

णिक्कामो णिक्कोहो, णिम्माणो णिम्मदो अप्पा ॥४॥

वह आत्मा निर्ग्रन्थ—ग्रन्थिरहित, नीराग, निःशल्य सर्व दोष मुक्त, निष्काम, निष्क्रोध, निर्मान तथा निर्मद है ।

१०५. णवि होदि अप्पमत्तो, ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो ।

एवं भणंति सुद्धं, णाओ जो सो उ सो चेव ॥५॥

आत्मा ज्ञायक है । जो ज्ञायक होता है, वह न अप्रमत्त होता है और न प्रमत्त । जो अप्रमत्त और प्रमत्त नहीं होता वह शुद्ध होता है । आत्मा ज्ञायकरूप में ज्ञात है और वह शुद्ध अर्थ में ज्ञायक ही है । उसमें ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है ।

१०६. णाहं देहो ण मणो, ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं ।

कत्ता ण ण कारयिदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ॥६॥

मैं (आत्मा) न शरीर हूँ, न मन हूँ, न वाणी हूँ और न उनका कारण हूँ । मैं न कर्ता हूँ, न कराने वाला हूँ और न कर्ता का अनुमोदक ही हूँ ।

१०७. को णाम भणिज्ज बुहो, णाउं सव्वे पराइए भावे ।

मज्झमिणं ति य वयणं, जाणंतो अप्पयं सुद्धं ॥७॥

आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानने वाला तथा परकीय भावों को जानने वाला ऐसा कौन ज्ञानी होगा, जो यह कहेगा कि 'यह मेरा है ।'

१०८. अहमिक्को खलु सुद्धो, णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो ।

तम्हि ठिओ तच्चित्तो, सव्वे एए खयं णेमि ॥८ ॥

मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममतारहित तथा ज्ञानदर्शन से परिपूर्ण हूँ । अपने इस शुद्ध स्वभाव में स्थित और तन्मय होकर मैं इन सब परकीय भावों का क्षय करता हूँ ।

११. मोक्षमार्गसूत्र

१०९. मग्गो मग्गफलं ति य, दुविहं जिणसासणे समक्खदादं ।

मग्गो खलु सम्मतं मग्गफलं होइ णिव्वाणं ॥१ ॥

जिनशासन में 'मार्ग' तथा 'मार्गफल' इन दो प्रकारों से कथन किया गया है । 'मार्ग' 'मोक्ष' का उपाय है । उसका 'फल' 'निर्वाण' या 'मोक्ष' है ।

११०. दंसणणाणचरित्ताणि, मोक्खमग्गो ति सेविदव्वाणि ।

साधुहि इदं भणिदं, तेहिं दु बंधो व मोक्खो वा ॥२ ॥

दर्शन, ज्ञान, चारित्र मोक्ष का मार्ग है । साधुओं को इनका आचरण करना चाहिए । यदि वे स्वाश्रित होते हैं तो इनसे मोक्ष होता है और पराश्रित होने से बन्ध ।

१११. सद्दहदि य पत्तेदि य, रोचेदि य तह पुणो य फासेदि ।

धम्मं भोगणिमित्तं, ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥३ ॥

अभव्य जीव यद्यपि धर्म में श्रद्धा रखता है, उसकी प्रतीति करता है, उसमें रुचि रखता है, उसका पालन भी करता है, किन्तु यह सब वह धर्म को भोग का निमित्त समझकर करता है, कर्मक्षय का कारण समझकर नहीं ।

११२. सुहपरिणामो पुण्णं, असुहो पाव ति भणियमन्नेसु ।

परिणामो णन्नगदो, दुक्खक्खयकारणं समये ॥४ ॥

(वह नहीं जानता कि) परद्रव्य में प्रवृत्त शुभ-परिणाम पुण्य है और अशुभ-परिणाम पाप है । धर्म अनन्यगत अर्थात् स्व-द्रव्य में प्रवृत्त परिणाम है

जो यथासमय दुःखों के क्षय का कारण होता है ।

११३. पुण्णं पि जो समिच्छदि, संसारो तेण ईहिदो होदि ।

पुण्णं सुगईहिदुं, पुण्णखण्णोव णिव्वाणं ॥५ ॥

जो पुण्य की इच्छा करता है, वह संसार की ही इच्छा करता है । पुण्य सुगति का हेतु है, किन्तु निर्वाण तो पुण्य के क्षय से ही होता है ।

११४. कम्ममसुहं कुसीलं, सुहकम्मं चावि जाण व सुसीलं ।

कह तं होदि सुसीलं, जं संसारं पवेसेदि ॥६ ॥

अशुभ-कर्म को कुशील और शुभ-कर्म को सुशील जानो । किन्तु उसे सुशील कैसे कहा जा सकता है जो संसार में प्रविष्ट कराता है ?

११५. सोवण्णियं पि णियलं, बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं ।

बंधदि एवं जीवं, सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥७ ॥

बेड़ी सोने की हो चाहे लोहे की, पुरुष को दोनों ही बेड़ियाँ बाँधती हैं । इसी प्रकार जीव को उसके शुभ-अशुभ कर्म बाँधते हैं ।

११६. तम्हा दु कुसीलेहिं य, रायं मा कुणह मा व संसर्गं ।

साहीणो हि विणासो, कुसीलसंसग्गरायेण ॥८ ॥

अतः परमार्थतः दोनों ही प्रकार के कर्मों को कुशील जानकर उनके साथ न राग करना चाहिए और न उनका संसर्ग । क्योंकि कुशील कर्मों के प्रति राग और संसर्ग करने से स्वाधीनता नष्ट होती है ।

११७. वरं वयतवेहि सग्गो, मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं ।

छायातवट्टियाणं, पडिवालंताण गुरुभेयं ॥९ ॥

(तथापि) व्रत व तपादि के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति उत्तम है । इनके न करने पर नरकादि के दुःख उठाना ठीक नहीं है । क्योंकि कष्ट सहते हुए धूप में खड़े रहने की अपेक्षा छाया में खड़े रहना कहीं ज्यादा अच्छा है ।

११८. खयरामरणुय-करंजलि-मालाहिं च संथुया विउला ।

चक्कहरायलच्छी, लब्भई बोही ण भव्वणुआ ॥१० ॥

शुभ भाव से विद्याधरों, देवों तथा मनुष्यों की करांजलि-बद्ध स्तुतियों से स्तुत्य चक्रवर्ती सम्राट् की विपुल राज्यलक्ष्मी तक उपलब्ध हो सकती है, किन्तु भव्य जीवों के द्वारा आदरणीय सम्यक्-सम्बोधि प्राप्त नहीं होती ।

१२. रत्नत्रयसूत्र

११९. धम्मादीसहहणं, सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं ।
चिद्धा तवंसि चरिया, ववहारो मोक्खमग्गो त्ति ॥१ ॥
धर्म आदि का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है । अंगों और पूर्वों अर्थात् धर्मशास्त्रों का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है । तप में प्रयत्नशीलता सम्यक्-चारित्र्य है । यह व्यवहार मोक्षमार्ग है ।
१२०. नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्धे ।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥२ ॥
मनुष्य ज्ञान से जीवादि पदार्थों को जानता है, दर्शन से उनका श्रद्धान करता है, चारित्र्य से कर्मास्त्रव का निरोध करता है और तप से विशुद्ध होता है ।
१२१. नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥३ ॥
सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता । ज्ञान के बिना चारित्र्यगुण नहीं होता । चारित्र्यगुण के बिना मोक्ष (कर्मक्षय) नहीं होता और मोक्ष के बिना निर्वाण नहीं होता ।
१२२. हयं नाणं कियाहीणं, हया अण्णाणओ किया ।
पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो य अंधओ ॥४ ॥
क्रिया-विहीन ज्ञान व्यर्थ है और अज्ञानियों की क्रिया व्यर्थ है । जैसे पंगु व्यक्ति वन में लगी आग को देखते हुए भी भागने में असमर्थ होने से जल मरता है और अन्धा व्यक्ति दौड़ते हुए भी देखने में असमर्थ होने से जल मरता है ।
१२३. संजोअसिद्धीइ फलं वयंति, न हु एगचक्केण रहो पयाइ ।
अंधो य पंगू य वणे समिच्च्वा, ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ॥५ ॥

ज्ञान और क्रिया के संयोग से ही फल की प्राप्ति कही गई है, जैसे कि पंगु और अन्धे के मिलन पर दोनों पारस्परिक सहयोग से वन से नगर में प्रविष्ट हो जाते हैं। आखिर, एक पहिये से रथ नहीं चलता।

१२४. सम्मदंसणणाणं, एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं ।

सव्वणयपक्खरहिदो, भणिदो जो सो समयसारो ॥६ ॥

जो सब नय-पक्षों से रहित है वही समयसार है, उसी को सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान की संज्ञा प्राप्त होती है।

१२५. दंसणणाणचरित्ताणि, सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।

ताणि पुण जाण तिण्णि वि, अप्पाणं चैव णिच्छयदो ॥७ ॥

साधु को नित्य दर्शन, ज्ञान और चारित्र का पालन करना चाहिए। निश्चयदृष्टि से इन तीनों को आत्मा ही समझना चाहिए। ये तीनों आत्मस्वरूप ही हैं। अतः निश्चय से आत्मा का सेवन ही उचित है।

१२६. णिच्छयणयेण भणिदो, तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा ।

ण कुणदि किंचि वि अन्नं, ण मुयदि सो मोक्खमग्गो त्ति ॥८ ॥

जो आत्मा इन तीनों से समाहित हो जाता है, न अन्य कुछ करता है और न कुछ छोड़ता है, उसी को निश्चयनय से मोक्षमार्ग कहा गया है।

१२७. अप्पा अप्पम्मि रओ, सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो ।

जाणइ तं सण्णाणं, चरदिह चारित्तमग्गु त्ति ॥९ ॥

इस दृष्टि से आत्मा में लीन आत्मा ही सम्यग्दृष्टि होता है। जो आत्मा को यथार्थरूप में जानता है वही सम्यग्ज्ञान है, और उसमें स्थित रहना ही सम्यक् चारित्र है।

१२८. आया हु महं नाणे, आया मे दंसणे चरित्ते य ।

आया पच्चक्खणाणे, आया मे संजमे जोगे ॥१० ॥

आत्मा ही मेरा ज्ञान है। आत्मा ही दर्शन और चारित्र है। आत्मा ही प्रत्याख्यान (नियम) है और आत्मा ही संयम और योग है। अर्थात् ये सब आत्मरूप ही हैं।

१३. सम्यग्दर्शनसूत्र

१२९. सम्पत्तरयणसारं, मोक्खमहारुक्खमूलमिदि भणियं ।
 तं जाणिज्जइ णिच्छय-ववहारसरूव-दोभेयं ॥१॥
 रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ है और इसको मोक्षरूपी महावृक्ष का मूल कहा गया है । यह निश्चय और व्यवहार के रूप में दो प्रकार का है ।
१३०. जीवादी सद्वहणं, सम्पत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
 ववहारा णिच्छयदो, अप्पा णं हवइ सम्पत्तं ॥२॥
 व्यवहारदृष्टि से जीव आदि, तत्त्वों के श्रद्धान को जिनदेव ने सम्यक्त्व कहा है । निश्चय से तो आत्मा ही सम्यग्दर्शन है ।
१३१. जं मोणं तं सम्मं, जं सम्मं तमिह होइ मोणं ति ।
 निच्छयओ इयरस्स उ, सम्मं सम्पत्तहेऊ वि ॥३॥
 निश्चय से जो मौन है वही सम्यग्दर्शन है और जो सम्यग्दर्शन है वही मौन है । व्यवहार से जो निश्चय-सम्यग्दर्शन के हेतु हैं, वे भी सम्यग्दर्शन हैं ।
१३२. निस्संकिय निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।
 उवबूह थिरीकरणे, वच्छल्ल पभावणे अट्ट ॥४॥
 निःशंका (संशयरहित), निष्कांक्षा (आकांक्षारहित), निर्विचिकित्सा (जुगुप्सारहित), अमूढदृष्टि (निभ्रान्त दृष्टि), उपगूहन (आत्म-नियन्त्रण), स्थिरीकरण (सुदृढ़ता), वात्सल्य और प्रभावना (धर्म-विस्तार)—सम्यग्दर्शन के ये आठ अंग हैं ।
१३३. सम्पत्तविरहिया णं, सुट्टु वि उगं तवं चरंता णं ।
 ण लहंति बोहिलाहं, अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥५॥
 सम्यक्त्वविहीन व्यक्ति हजारों-करोड़ वर्षों तक भली भाँति उग्र तप करने पर भी बोधिलाभ प्राप्त नहीं करता ।
१३४. दंसणभट्टा भट्टा, दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं ।
 सिज्झंति चरियभट्टा, दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥६॥

जो दर्शन से भ्रष्ट है वह भ्रष्ट है। दर्शन-भ्रष्ट को निर्वाण-प्राप्ति नहीं होती। चारित्ररहित कदाचित सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु सम्यग्दर्शन से रहित सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकते।

१३५. सम्पत्तस्स य लंभो, तेलोक्कस्स य ह्वेज्ज जो लंभो।

सम्पद्सणलंभो, वरं खु तेलोक्कलंभादो ॥७॥

एक ओर सम्यक्त्व का लाभ और दूसरी ओर त्रैलोक्य का लाभ होता हो, तो त्रैलोक्य के लाभ से सम्यग्दर्शन का लाभ श्रेष्ठ है।

१३६. किं बहुणा भणिणं, जे सिद्धा णरवरा गए काले।

सिज्झिहिंति जे वि भविया, तं जाणइ सम्ममाहणं ॥८॥

अधिक क्या कहें? अतीतकाल में जो श्रेष्ठजन सिद्ध हुए हैं और जो आगे सिद्ध होंगे, वह सम्यक्त्व का ही माहात्म्य है।

१३७. जह सलिलेण ण लिप्पइ, कमलिणपत्तं सहावपयडीए।

तह भावेण ण लिप्पइ, कसायविसएहिं सप्पुरिसो ॥९॥

जैसे कमलिनी का पत्र स्वभाव से ही जल से लिप्त नहीं होता, वैसे ही सत्पुरुष सम्यक्त्व के प्रभाव से कषाय और विषयों से लिप्त नहीं होता।

१३८. उवभोगमिदियेहि, दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।

जं कुणदि सम्मदिट्ठी, तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥१०॥

सम्यग्दृष्टि मनुष्य अपनी इन्द्रियों के द्वारा चेतन तथा अचेतन द्रव्यों का जो भी उपभोग करता है, वह सब कर्मों की निर्जरा में सहायक होता है।

१३९. सेवंतो वि ण सेवइ, असेवमाणो वि सेवगो कोई।

पगरणचेट्ठा कस्स वि, ण य पायरणो त्ति सो होई ॥११॥

कोई तो विषयों का सेवन करते हुए भी सेवन नहीं करता और कोई सेवन न करते हुए भी विषयों का सेवन करता है। जैसे अतिथिरूप से आया कोई पुरुष विवाहआदि कार्य में लगा रहने पर भी उस कार्य का स्वामी न होने से कर्ता नहीं होता।

१४०. न कामभोग समयं उर्वेति, न यावि भोगा विगडं उर्वेति ।
जे तप्यओसी य परिगही य, सो तेसु मोहा विगडं उवेइ ॥१२ ॥
(इसी तरह— कामभोग न समभाव उत्पन्न करते हैं और न विकृति/विषमता ।
जो उनके प्रति द्वेष और ममत्व रखता है वह उनमें विकृति को प्राप्त होता है ।
१४१. दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं ।
दंसणविहीण पुरिसो, न लहइ तं इच्छियं लाहं ॥१३ ॥
अतः जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है वही निर्वाण प्राप्त करता है । सम्यग्दर्शन-विहीन पुरुष इच्छित लाभ नहीं कर पाता ।

१४. सम्यग्ज्ञानसूत्र

१४२. सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणए सोच्चा, जं छेयं तं समायरे ॥२ ॥
सुनकर ही कल्याण का मार्ग जाना जा सकता है और सुनकर ही पाप का । दोनों को सुनकर जो श्रेयस्कर हो उसका आचरण करना चाहिए ।
१४३. णाणाऽऽणत्तीए पुणो, दंसणतवनियमसंजमे ठिच्चा ।
विहरइ विसुज्झमाणो, जावज्जीवं पि निक्कंपो ॥३ ॥
और फिर ज्ञान के आदेश द्वारा सम्यग्दर्शन-मूलक तप, नियम, संयम में स्थित होकर कर्म-मल से विशुद्ध साधक जीवन पर्यन्त निष्कम्प (स्थिरचित्त) होकर विहार करता है ।
१४४. जह जह सुयभोगाहइ, अइसयरसपसरसंजुयमपुव्वं ।
तह तह पल्हाइ मुणी, नवनवसवेगसंद्धाओ ॥४ ॥
जैसे-जैसे मुनि अतिशयरस के अतिरेक से युक्त अपूर्वश्रुत का अवगाहन करता है, वैसे-वैसे नित-नूतन वैराग्य युक्त श्रद्धा से आह्लादित होता है ।
१४५. सूई जहा ससुत्ता, न नस्सई कयवरम्मि पडिआ वि ।
जीवो वि तह ससुत्तो, न नस्सइ गओ वि संसारे ॥१ ॥

जैसे धागा पिरोयी हुई सुई कचरे में गिर जाने पर भी खोती नहीं है, वैसे ही ससूत्र अर्थात् शास्त्रज्ञान-युक्त जीव संसार में पड़कर भी नष्ट नहीं होता ।

१४६. जेण तच्चं विबुद्धेज्ज, जेण चित्तं णिरुद्धदि ।

जेण अत्ता विसुद्धेज्ज, तं णाणं जिणसासणे ॥५ ॥

जिससे तत्त्व का बोध होता है, चित्त का निरोध होता है तथा आत्मा विशुद्ध होती है, उसे जिनशासन में ज्ञान कहा गया है ।

१४७. जेण रागा विरज्जेज्ज, जेण सेएसु रज्जदि ।

जेण मिती पभावेज्ज, तं णाणं जिणसासणे ॥६ ॥

जिससे जीव राग-विमुख होता है, श्रेय में अनुरक्त होता है और जिससे मैत्रीभाव बढ़ता है, उसे जिनशासन में ज्ञान कहा गया है ।

१४८. जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्टं अणणमविसेसं ।

अपदेससुत्तमज्झं, पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥७ ॥

जो आत्मा को अबद्धस्पृष्ट (देहकर्मातीत) अनन्य, (अन्य से रहहित) अविशेष (विशेष से रहित), तथा आदि-मध्य और अन्तविहीन (निर्विकल्प) देखता है, वही समग्र जिनशासन को देखता है ।

१४९. जो अप्पाणं जाणद, असुइ-सरीरादु तच्चदो भिन्नं ।

जाणग-रूव-सरूव्वं, सो सत्थं जाणदे सव्वं ॥८ ॥

जो आत्मा को इस अपवित्र शरीर से तत्त्वतः भिन्न तथा ज्ञायक-भावरूप जानता है, वही समस्त शास्त्रों को जानता है ।

१५०. जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ ।

जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ ॥९ ॥

जो एक (आत्मा) को जानता है वह सब (जगत्) को जानता है । जो सबको जानता है, वह एक को जानता है ।

१५१. एदमिह रदो णिच्चं, संतुट्ठो होहि णिच्चमेदमिह ।

एदेण होहि तित्तो, होहिदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥१० ॥

अतः तू ज्ञान में सदा लीन रहे । इसी में सदा संतुष्ट रहा । इसी से तृप्त हो । इसी से तुझे उत्तम सुख प्राप्त होगा ।

१५. सम्यक् चारित्र्यम्

१५२. सुबहुं पि सुयमहीयं, किं काहिइ चरणविष्णहीणस्स ।
अंधस्स जह पलित्तं, दीवसयसहस्सकोडी वि ॥१॥
चारित्र-शून्य पुरुष का विपुल शास्त्राध्ययन भी वैसे ही व्यर्थ है, जैसे अन्धे के आगे लाखों-करोड़ों दीपक जलाना ।
१५३. थोवम्मि सिक्खिदे जिणइ, बहुसुदं जो चरित्तसंपुण्णो ।
जो पुण चरित्तहीणो, किं तस्स सुदेण बहुएण ॥२॥
चारित्रसम्पन्न का अल्पतम ज्ञान भी बहुत है और चारित्रविहीन का बहुत श्रुतज्ञान भी निष्फल है ।
१५४. णिच्छयणयस्स एवं, अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो ।
सो होदि हु सुचरित्तो, जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥३॥
निश्चय दृष्टि के अनुसार आत्मा का आत्मा में आत्मा के लिए तन्मय होना ही सम्यक् चारित्र है । ऐसे चारित्रशील योगी को निर्वाण की प्राप्ति होती है ।
१५५. जं जाणिऊण जोई, परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं ।
तं चारित्तं भणियं, अवियप्यं कम्मरहिएहिं ॥४॥
जिसे जानकर योगी पाप व पुण्य दोनों का परिहार कर देता है, उसे ही कर्मरहित निर्विकल्प चारित्र कहा गया है ।
१५६. अब्भंतरसोधीए, बाहिरसोधी वि होदि णियमेण ।
अब्भंतर-दोसेण हु, कुणदि णरो बाहिरे दोसे ॥५॥
आभ्यन्तर-शुद्धि होने पर बाह्य-शुद्धि भी नियमतः होती ही है । आभ्यन्तर-दोष से ही मनुष्य बाह्य दोष करता है ।

१५७. मदमाणमायलोह-विवज्जियभावो दु भावसुद्धि ति ।
परिकहियं भव्वाणं, लोयालोयप्परिसीहिं ॥६ ॥
मद, मान, माया और लोभ से रहित भाव ही भावशुद्धि है, ऐसा लोकालोक के
ज्ञाता-द्रष्टा सर्वज्ञदेव का भव्य जीवों के लिए उपदेश है ।

१५८. जह व णिरुद्धं असुहं, सुहेण सुहमवि तहेव सुद्धेण ।
तम्हा एण कमेण य, जोई झाएउ णियआदं ॥७ ॥
शुभ के द्वारा अशुभ का निरोध किया जाता है और शुद्ध के द्वारा शुभ का । योगी
इसी क्रम से आत्मा का ध्यान करे ।

१६. श्रावकधर्मसूत्र

१५९. दो चेव जिणवरोहिं, जाइजरामरणविष्पमुक्केहिं ।
लोगम्मि पहा भणिया, सुस्समण सुसावगो वा वि ॥१ ॥
जन्म-जरा-मरण से मुक्त जिनेन्द्रदेव ने इस लोक में दो मार्ग बतलाये हैं—एक
है सुश्रमण का और दूसरा है सुश्रावक का ।

१६०. दाणं पूया मुक्खं, सावयधम्मे ण सावया तेण विणा ।
झाणाज्झयणं मुक्खं, जइधम्मे तं विणा तहा सो वि ॥२ ॥
श्रावक-धर्म में दान और पूजा मुख्य हैं, जिनके बिना श्रावक नहीं होता तथा
श्रमण-धर्म में ध्यान व अध्ययन मुख्य हैं, जिनके बिना श्रमण नहीं होता ।

१६१. सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा ।
गारत्थेहिं य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा ॥३ ॥
साधुजन सभी गृहस्थों से संयम में श्रेष्ठ होते हैं, किन्तु कुछ गृहस्थ भिक्षुओं की
अपेक्षा संयम में श्रेष्ठ होते हैं ।

१६२. पंचुवरसहियाइं, सत्त वि विसणाईं जो विवज्जेइ ।
सम्मत्तविसुद्धमईं, सो दंसणसावओ भणिओ ॥४ ॥
जिसकी मति सम्यग्दर्शन से विशुद्ध हो गयी है वह व्यक्ति पाँच उदुम्बर

फल-सहित सात व्यसनों का त्याग करने से दार्शनिक श्रावक कहा जाता है ।

१६३. इत्थी जूयं मज्जं, मिगव्व वयणे तहा फरुसया य ।

दंडफरुसत्तमत्थस्स, दूसणं सत्त वसणाइं ॥५ ॥

स्त्री, जुआ, शराब, शिकार, वचन-परुषता, कठोर दण्ड तथा अर्थ-दूषण (चोरी आदि) ये सात व्यसन हैं ।

१६४. मांसासणेण वडुइ दण्णे दप्पेण मज्जमहिलसइ ।

जूयं पि रमई तो तं, पि वण्णिणए पाउणइ दोसे ॥६ ॥

मांसाहार से दर्प बढ़ता है । दर्प से मनुष्य में मद्यपान की अभिलाषा जागती है और तब वह जुआ भी खेलता है । इस प्रकार मांसाहार से मनुष्य सर्व दोषों को प्राप्त हो जाता है ।

१६५. मज्जेण णरो अवसो, कुणेइ कम्माणि णिंदणिज्जाइं ।

इहलोए परलोए, अणुहवइ अणंतयं दुक्खं ॥७ ॥

मद्यपान से मनुष्य मदहोश होकर निन्दनीय कर्म करता है और फलस्वरूप इस लोक तथा परलोक में अनन्त दुःखों का अनुभव करता है ।

१६६. संवेगजणिदकरणा, णिस्सल्ला मंदरो व्व णिवक्कंपा ।

जस्स दिढा जिणभत्ती, तस्स भयं णत्थि संसारे ॥८ ॥

जिसके हृदय में संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न करने वाली, शल्यरहित तथा मेरुवत् निष्कम्प और दृढ़ जिन-भक्ति है, उसी संसार में किसी तरह का भय नहीं है ।

१६७. सत्तू वि मित्तभावं, जम्हा उवयाइ विणयसीलस्स ।

विणओ तिविहेण तओ, कायव्वो देसविरएण ॥९ ॥

शत्रु भी विनयशील व्यक्ति का मित्र बन जाता है । इसलिए देशविरत या अणुव्रती श्रावक को मन-वचन-काय से सम्यक्त्व आदि गुणों का तथा गुणीजनों का विनय करना चाहिए ।

१६८. पाणिवहमुसावाए, अदत्तपरदारनियमणेहिं च ।
अपरिमिद्दच्छाओऽवि य, अणुव्वयाइं विरमणाइं ॥१० ॥
प्राणि-वध, मृषावाद, (झूठ) बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण, परस्त्री-सेवन तथा
अपरिमित इच्छा—इन पाँचों पापों से विरति अणुव्रत है ।
१६९. आहारोसह-सत्याभय-भेओ जं चउव्विहं दाणं ।
तं वुच्चइ दायव्वं, णिद्धिदुमुवासयज्झयणे ॥११ ॥
आहार, औषध, शास्त्र और अभय के रूप में दान चार प्रकार का कहा गया है ।
उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) में उसे देने योग्य कहा गया है ।
१७०. दाणं भोयणमेत्तं, दिज्जइ धन्नो हवेइ सायारो ।
पत्तापत्तविसेसं, संदंसणे किं वियारेण ॥१२ ॥
भोजन मात्र का दान करने से भी गृहस्थ धन्य होता है । इसमें पात्र और अपात्र
का विचार करने से क्या लाभ ?
१७१. साहूणं कप्पणिज्जं, जं न वि दिण्णं कहिं पि किंचि तहिं ।
धीरा जहुत्तकारी, सुसावया तं न भुंजंति ॥१३ ॥
जिस घर में साधुओं को कल्पनीय (उनके अनुकूल) किंचित् भी दान नहीं दिया
जाता, उस घर में शास्त्रोक्त आचरण करने वाले धीर और त्यागी सुश्रावक भोजन
नहीं करते ।
१७२. जो मुणिभुत्तविसेसं, भुंजइ सो भुंजए जिणुवदिदुं ।
संसारसारसोक्खं, कमसो णिव्वाणवरसोक्खं ॥१४ ॥
जो गृहस्थ मुनि को भोजन कराने के पश्चात् बचा हुआ भोजन करता है, वास्तव
में उसी का भोजन करना सार्थक है । वह जिनोपदिष्ट संसार का सारभूत सुख
तथा क्रमशः मोक्ष का उत्तम सुख प्राप्त करता है ।
१७३. जं कीरइ परिरक्खा, णिच्चं मरण-भयभीरु-जीवाणं ।
तं जाण अभयदाणं, सिहामणिं सव्वदाणाणं ॥१५ ॥
मृत्यु-भय से भयभीत जीवों की रक्षा करना ही अभय-दान है । यह अभय-दान
सब दानों का शिरोमणि है ।

१७. श्रमणधर्मसूत्र

१७४. सीह-गय-वसह-मिय-पसु, मारुद-सूरूवहि-मंदरिंदु-मणी ।

खिदि-उरगंवरसरिसा, परम-पय-विमग्गया साहू ॥१॥

परमपद की खोज में निरत साधु सिंह के समान पराक्रमी, हाथी के समान स्वाभिमानी, वृषभ के समान भद्र, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह, वायु के समान निस्संग, सूर्य के समान तेजस्वी, सागर के समान गम्भीर, मेरु के समान निश्चल, चन्द्रमा के समान शीतल, मणि के समान कांतिमान, पृथ्वी के समान सहिष्णु, सर्प के समान अनियत-आश्रयी तथा आकाश के समान निरवलम्ब होते हैं । (साधु की ये चौदह उपमाएँ हैं ।)

१७५. न वि मुण्डिण्ण समणो, न ओंकारेण बंभणो ।

न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥२॥

केवल सिर मुँडाने से कोई श्रमण नहीं होता, ओम् का जप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, अरण्य में रहने से कोई मुनि नहीं होता और कुश-चीवर धारण करने से कोई तपस्वी नहीं होता ।

१७६. समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो ।

नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥३॥

वह समता से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप से तपस्वी होता है ।

१७७. गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू, गिण्हाहि साहूगुण मुंचऽसाहू ।

वियाणिया अप्पगमप्पणं, जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥४॥

गुणों से साधु होता है और अगुणों से असाधु । साधु के गुणों को ग्रहण करो और असाधुता का त्याग करो । आत्मा को आत्मा के द्वारा जानते हुए जो राग-द्वेष में समभाव रखता है, वह पूज्य है ।

१७८. सज्जायज्जाणजुत्ता, रत्ति ण सुयंति ते पयामं तु ।

सुत्तथं चिंतंता, णिहाय वसं ण गच्छंति ॥५॥

स्वाध्याय और ध्यान में लीन साधु रात में बहुत नहीं सोते हैं । सूत्र और अर्थ

का चिन्तन करते रहने के कारण वे निद्रा के वश नहीं होते ।

१७९. निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो ।

समो य सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु अ ॥६ ॥

साधु ममत्वरहित, निरहंकारी, निस्संग, गौरव का त्यागी तथा त्रस और स्थावर जीवों के प्रति समदृष्टि रखता है ।

१८०. लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तथा ।

समो निंदापसंसासु, तथा माणावमाणओ ॥७ ॥

वह लाभ और अलाभ में, सुख और दुःख में, जीवन और मरण में, निंदा और प्रशंसा में तथा मान और अपमान में समभाव रखता है ।

१८१. किं काहदि वणवासो, कायकलेसो विचित्त उववासो ।

अज्झयणमोणपहुदी, समदारहियस्स समणस्स ॥८ ॥

समता-रहित श्रमण का वनवास, कायक्लेश, विविध उपवास, अध्ययन और मौन आदि व्यर्थ है ।

१८२. बुद्धे परिनिव्वुडे चरे, गाम गए नगरे व संजए ।

संतिमग्गं च बूहए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥९ ॥

प्रबुद्ध और उपशान्त होकर संयत भाव से ग्राम और नगर में विचरण कर । शान्ति का मार्ग बढ़ा । हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद मत कर ।

१८३. न हु जिणे अज्ज दिस्सई, बहुमए दिस्सई मग्गदेसिए ।

संपइ नेयाउए पहे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१० ॥

भविष्य में लोग कहेंगे, आज 'जिन' दिखाई नहीं देते और जो मार्गदर्शक हैं वे भी एकमत के नहीं हैं । किन्तु आज तुझे न्यायपूर्ण मार्ग उपलब्ध है । अतः गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद मत कर ।

१८४. भावो हि पढमलिंगं, ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं ।

भावो कारणभूदो, गुणदोसाणं जिणा बिंति ॥११ ॥

भाव ही प्रथम या मुख्य लिंग है । द्रव्य लिंग परमार्थ नहीं है, क्योंकि भाव को

ही जिनदेव गुण-दोषों का कारण कहते हैं ।

१८५. भावविसुद्धिणिमित्तं, बाहिरगंथस्स कीरए चाओ ।

बाहिरचाओ विहलो, अब्भंतरगंथजुत्तस्स ॥१२॥

भावों की विशुद्धि के लिए ही बाह्य परिग्रह का त्याग किया जाता है । जिसके भीतर परिग्रह की वासना है उसका बाह्य त्याग निष्फल है ।

१८६. देहादिसंगरहिओ, माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो ।

अप्पा अप्पम्मि रओ, स भावलिंगी हवे साहू ॥१३॥

जो देह आदि की ममता से रहित है, मान आदि कषायों से पूरी तरह मुक्त है तथा जो अपनी आत्मा में लीन है, वह साधु भावलिंगी है ।

१८. व्रतसूत्र

१८७. अहिंसा सच्चं च अतेणगं च, ततो य बंभं अपरिग्गहं च ।

पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि, चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ ॥१॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच महाव्रतों को स्वीकार करके ज्ञानी पुरुष जिनोपदिष्ट धर्म का आचरण करे ।

१८८. सव्वेसिमासमाणं, हिदयं गब्भो व सव्वसत्थाणं ।

सव्वेसिं वदगुणाणं, पिंडो सारो अहिंसा हु ॥२॥

अहिंसा सब आश्रमों का हृदय, सब शास्त्रों का रहस्य तथा सब व्रतों और गुणों का पिण्डभूत सार है ।

१८९. अप्पणट्टा परट्टा वा, कोहा वा जइ वा भया ।

हिंसगं न मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए ॥३॥

स्वयं अपने लिए या दूसरों के लिए क्रोध आदि या भय आदि के वश होकर हिंसात्मक असत्य वचन न तो स्वयं बोलना चाहिए और न दूसरों से बुलवाना चाहिए । यह दूसरा सत्यव्रत है ।

१९०. गामे वा णयरे वा, रण्णे वा पेच्छिऊण परमत्थं ।
जो मुंचदि गहणभावं, तिदियवदं होदि तस्सेव ॥४ ॥
ग्राम, नगर अथवा अरण्य में दूसरे की वस्तु को देखकर उसे ग्रहण करने का भाव त्याग देने वाले के तीसरा अचौर्यव्रत होता है ।
१९१. मादुसुदाभगिणी विय, दड्डुणित्थित्थियं य पडिरूवं ।
इत्थिकहादिणियत्ती, तिलोयपुज्जं हवे बंभं ॥५ ॥
वृद्धा, बालिका और युवती स्त्री के इन तीन प्रतिरूपों को देखकर उन्हें माता, पुत्री और बहन के समान मानना तथा स्त्री-कथा से निवृत्त होना चौथा ब्रह्मचर्य-व्रत है । यह ब्रह्मचर्य तीनों लोकों में पूज्य है ।
१९२. न सो परिग्गहो वुत्ते, नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥६ ॥
ज्ञातपुत्र महावीर ने वस्तुगत परिग्रह को परिग्रह नहीं कहा है । उन महर्षि ने मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा है ।
१९३. किं किंचणत्ति तक्कं, अपुणब्भव-कामिणोद देहे वि ।
संग त्ति जिणवरिंदा, णिप्पडि कम्मत्तमुद्धिडा ॥७ ॥
जब जिनेश्वरदेव ने मोक्षाभिलाषी को 'शरीर भी परिग्रह है' कहकर देह की उपेक्षा करने का उपदेश दिया है, तब अन्य परिग्रह की तो बात ही क्या है ।

१९. समिति-गुप्तिसूत्र

१९४. इरियाभासेसणाऽऽदाणे, उच्चारे समिई इय ।
मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य अट्टमा ॥१ ॥
ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और उच्चार-प्रस्रवण—ये पाँच समितियाँ (समिति = सम्यक् प्रवृत्ति) हैं । मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति—ये तीन गुप्तियाँ (गुप्ति = गोपन/नियंत्रण) हैं ।

१९५. एयाओ पंच समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे ।
 गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो ॥३ ॥
 ये पाँच समितियाँ चारित्र की प्रवृत्ति के लिए हैं और तीन गुप्तियाँ सभी अशुभ
 विषयों से निवृत्ति के लिए हैं ।

१९६. मरदु व जियदु व जीवो, अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
 पयदस्स णत्थि बंधो, हिंसामेत्तेण समिदीसु ॥४ ॥
 जीव मरे या जीये, अयतनाचारी को हिंसा का दोष अवश्य लगता है । किन्तु जो
 समितियों में प्रयत्नशील है उससे बाह्य हिंसा हो जाने पर भी उसे कर्मबन्ध नहीं
 होता ।

१९७-८ आहच्च हिंसा समितस्स जा तू, सा दव्वतो होति ण भावतो उ ।
 भावेण हिंसा तु असंजतस्सा, जे वा वि सत्ते ण सदा वधेति ॥५ ॥
 संपत्ति तस्सेव जदा भविज्जा, सा दव्वहिंसा खलु भावतो य ।
 अज्झत्थसुद्धस्स जदा ण होज्जा, वधेण जोगो दुहतो वऽहिंसा ॥६ ॥
 समिति का पालन करते हुए साधु से जो आकस्मिक हिंसा हो जाती है, वह
 केवल द्रव्य-हिंसा है, भाव-हिंसा नहीं । भाव-हिंसा तो असंयत से होती है ऐसे
 लोग जिन जीवों को कभी मारते नहीं, उनकी हिंसा का दोष भी इन्हें लगता है ।
 किसी प्राणी का घात हो जाने पर जैसे असंयत व्यक्ति को द्रव्य तथा भाव
 दोनों प्रकार की हिंसा का दोष लगता है, वैसे ही चित्त-शुद्धि से युक्त
 समितिपरायण साधु द्वारा मनःपूर्वक किसी का घात न होने के कारण उन्हें द्रव्य
 तथा भाव दोनों प्रकार की अहिंसा होती है ।

१९९. जयणा उ धम्मजणणी, जयणा धम्मस्स पालणी चेव ।
 तव्वुड्डीकरी जयणा, एगंतसुहावहा जयणा ॥७ ॥
 यतनाचारिता धर्म की जननी है । यतनाचारिता धर्म की पालनहार है ।
 यतनाचारिता धर्म को बढ़ाती है । यतनाचारिता एकान्त सुखावह है ।

२००. जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए ।
 जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ ॥८ ॥
 यतना (विवेक) पूर्वक चलने, यतनापूर्वक रहने, यतनापूर्वक बैठने, यतनापूर्वक

सोने, यतनापूर्वक खाने और यतनापूर्वक बोलने से पाप-कर्म का बंध नहीं होता ।

२०१. फासुयमग्गेण दिवा, जुगंतरप्पेहिणा सकज्जेण ।

जंतुण परिहरंते-णिरियासमिदी हवे गमणं ॥९ ॥

कार्यवश दिन में प्रासुकमार्ग से (जिस मार्ग पर पहले से आवागमन शुरू हो चुका हो) चार हाथ भूमि को आगे देखते हुए, जीवों की विराधना बचाते हुए गमन करना ईर्या-समिति है । अर्थात् विवेकपूर्वक चलना ईर्या-समिति है ।

२०२. पेसुण्णहासकक्कस-परणिंदाप्पप्पसंसा-विकहादी ।

वज्जित्ता सपरहियं, भासासमिदी हवे कहणं ॥१० ॥

पैशुन्य, हास्य, कर्कश-वचन, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, विकथा (स्त्री, राज आदि की विकारवर्धक कथा) का त्याग करके स्व-पर हितकारी वचन बोलना ही भाषा-समिति है । अर्थात् विवेकपूर्वक बोलना भाषा-समिति है ।

२०३. तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाडणी ।

सच्चा-वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥११ ॥

कठोर और प्राणियों का उपघात करने वाली, चोट पहुँचाने वाली भाषा न बोलें ।
ऐसा सत्य-वचन भी न बोलें जिससे पाप का बन्ध होता हो ।

२०४. णाणाजीवा णाणाकम्मं, णाणाविहं हवे लद्धी ।

तम्हा वयणविवादं, सगपरसमएहिं वज्जज्जा ॥१२ ॥

इस संसार में नाना प्रकार के जीव हैं, नाना प्रकार के कर्म हैं, नाना प्रकार की लब्धियाँ हैं, इसलिए कोई स्वधर्मी हो या परधर्मी, किसी के भी साथ वचन-विवाद करना उचित नहीं ।

२०५-६. जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं ।

ण य पुप्फं किलामेद्द, सो य पीणेइ अप्पयं ॥१३ ॥

एमेए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो ।

विहंगमा व पुप्फेसु, दाणभत्तेसणेरया ॥१४ ॥

जैसे भ्रमर पुष्पों को तनिक भी पीड़ा पहुँचाये बिना रस ग्रहण करता है और अपने को तृप्त करता है, वैसे ही लोक में विचरण करने वाले परिग्रह-मुक्त

श्रमण दाता को कष्ट दिये बिना उसके द्वारा दिया गया ग्राह्य आहार ग्रहण करते हैं। यही उनकी एषणा समिति है। अर्थात् विवेकपूर्वक आहार-चर्या करना एषणा-समिति है।

२०७. चक्खुसा पडिलेहिता, पमज्जेज्ज जयं जई ।

आइए निक्खवेज्जा वा, दुहओवि समिए सया ॥१५ ॥

यतना (विवेक) पूर्वक प्रवृत्ति करने वाला अपने दोनों प्रकार के उपकरणों को आँखों से देखकर तथा प्रमार्जन करके उठाये और रखे। यही आदान-निक्षेपण समिति है। अर्थात् किसी भी वस्तु को विवेकपूर्वक उठाना-रखना चाहिए।

२०८. एगंते अच्चित्ते दूरे, गूढे विसालमविरोहे ।

उच्चारादिच्चाआ, पदिठावणिया हवे समिदी ॥१६ ॥

मल-मूत्र आदि का त्याग ऐसे स्थान पर करना चाहिए जहाँ एकान्त हो, हरित् वनस्पति से रहित हो, गाँव आदि से दूर हो, ओट में हो, विशाल-विस्तीर्ण हो, कोई विरोध न करता हो। यह प्रतिष्ठापनिका या उत्सर्ग समिति है। अर्थात् विवेकपूर्वक मल-मूत्र का त्याग करना चाहिए।

२०९. संरंभ-समारंभे, आरंभे य तहेव य ।

मणं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई ॥१७ ॥

यतनासम्पन्न यति (साधक) संरंभ, समारंभ व आरंभ (हिंसायुक्त प्रवृत्ति) में प्रवर्तमान मन को रोके—उसका गोपन करे। यह मनोगुप्ति है।

२१०. संरंभसमारंभे, आरंभे य तहेव य ।

वयं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई ॥१८ ॥

यतनासम्पन्न यति संरंभ, समारंभ व आरंभ में प्रवर्तमान वचन को रोके—उसका गोपन करे। यह वचनगुप्ति है।

२११. संरंभसमारंभे, आरंभम्मि तहेव य ।

कायं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई ॥१९ ॥

यतनासम्पन्न यति संरंभ, समारंभ व आरंभ में प्रवर्तमान काया को रोके—उसका गोपन करे। यह कायगुप्ति है अर्थात् मन, वचन और काया के

द्वारा किसी भी प्रकार की अनुचित प्रवृत्ति होने लगे, तो उस पर अंकुश लगाएँ ।

२१२. खेतस्स वई णयरस्स, खाइया अहव होइ पायारो ।

तह पावस्स णिरोहो, ताओ गुत्तीओ साहुस्स ॥२० ॥

जैसे खेत की रक्षा बाड़ और नगर की रक्षा खाई या प्राकार करते हैं, वैसे ही पाप-निरोधक गुप्तियाँ साधु के संयम की रक्षा करती हैं ।

२१३. जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुआहिं बासकोडीहिं ।

तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥२१ ॥

अज्ञानी व्यक्ति तप के द्वारा करोड़ों जन्मों या वर्षों में जितने कर्मों का क्षय करता है, उतने कर्मों का नाश ज्ञानी व्यक्ति त्रिगुप्ति के द्वारा एक साँस में सहज कर डालता है ।

२०. आवश्यकसूत्र

२१४. सामाइयं चउवीसत्थओ वंदणयं ।

पडिक्कमणं काउस्सग्गो पच्चक्खणं ॥१ ॥

सामायिक, चतुर्विंशति जिन-स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान—ये छह आवश्यक कर्म हैं ।

२१५. समभावो सामाइयं, तणकंचण-सत्तुमित्तविसओ त्ति ।

निरभिस्संगं चित्तं, उच्चिय-पवित्तिप्पहाणं च ॥२ ॥

तिनके और सोने में, शत्रु और मित्र में समभाव रखना ही सामायिक है । निरभिष्वंग अर्थात् राग-द्वेष रहित और उचित प्रवृत्तिप्रधान चित्त को सामायिक कहते हैं ।

२१६. जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा ।

तस्स सामायिगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥३ ॥

जो सर्वभूतों (जीवों) के प्रति समभाव रखता है, उसके सामायिक स्थायी होती है, ऐसा केवलि-शासन में कहा गया है ।

२१७. उसहादिजिणवराणं, णामणिरुत्ति गुणाणुकित्ति च ।

काऊण अच्चिदूण य, तिसुद्धिपणामो थवो णेओ ॥४ ॥

ऋषभ आदि चौबीस तीर्थकरों के नामों की निरुक्ति तथा उनके गुणों का कीर्तन करना, पूजा-अर्चना करना, मन-वचन-काया की शुद्धिपूर्वक प्रणाम करना 'चतुर्विंशति स्तव' नामक दूसरा आवश्यक है ।

२१८. दव्वे खेत्ते काले, भावे य कयावराह-सोहणयं ।

णिंदण-गरहण-जुत्तो, मणवचकायेण पडिक्कमणं ॥५ ॥

निन्दा तथा गर्हा से युक्त, मन-वचन-काय के द्वारा, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के कृत अपराधों की शुद्धि करना प्रतिक्रमण कहलाता है ।

२१९. आलोयणणिंदणगरह-णाहिं अब्भुद्धिओ अकरणाए ।

तं भाव-पडिक्कमणं सेसं पुण दव्वदो भणिअं ॥६ ॥

आलोचना, निन्दा तथा गर्हा के द्वारा प्रतिक्रमण करने में तथा पुनः दोष न करने में उद्यत पुरुष के भाव-प्रतिक्रमण होता है । शेष सब तो (प्रतिक्रमण-पाठ आदि करना) द्रव्य-प्रतिक्रमण है ।

२२०. इच्छाय अणुणवणा; अवावाहं यजत्त अवणाय ।

अवराह-सामणा वि, व छट्ठाणा हुंति वंदण ए ॥७ ॥

वन्दना के छह स्थान होते हैं—वंदन की इच्छा प्रकट करना, गुरु के मर्यादित स्थान में जाने की अनुज्ञा लेना, निर्विघ्न धर्म-साधना की इच्छा करना, संयम-यात्रा और इंद्रिय-जय का अनुमोदन करना तथा प्रमादवश हुए आचरणों के लिए क्षमा-याचना करना ।

२२१. विणओवयार माणस्स-मंजणा, पूजणा गुरुजणस्स ।

तित्थयराणय आणा-सुयधम्मा राहणा किरिया ॥८ ॥

वंदना करना उपचार नाम का विनय है । इससे अभिमान का विलय होता है, गुरुजनों की पूजा होती है, तीर्थकरों की आज्ञा और श्रुतधर्म की आराधना होती है तथा इसका पारम्परिक फल अक्रिया—परम ध्यान होता है ।

२२२. झाणणिलीणो साहु परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं ।
 तम्हा दु झाणमेव हि, सव्वऽदिचारस्स पडिक्कमणं ॥९ ॥
 ध्यान में लीन साधु अथवा व्यक्ति सब दोषों का परित्याग करता है । इसलिए
 ध्यान ही समस्त अतिचारों (दोषों) का प्रतिक्रमण है ।
२२३. देवस्सिय-णियमादिसु, जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि ।
 जिणगुण-चिंतणजुत्तो, काउसग्गो तणुविसग्गो ॥१० ॥
 दैवसिक प्रतिक्रमण के नियमों के अनुसार सत्ताईस श्वासोच्छ्वास तक अथवा
 उपयुक्त काल तक जिनेन्द्र भगवान् के गुणों का चिन्तवन करते हुए शरीर का
 ममत्व त्याग देना कायोत्सर्ग है ।
२२४. मोत्तूण सयलजप्प-मणागय-सुहमसुह-वारणं किच्चा ।
 अप्पाणं जो झायदि, पच्चक्खाणं हवे तस्स ॥११ ॥
 समस्त वाचनिक विकल्पों का त्याग करके तथा अनागत शुभाशुभ का निवारण
 करके जो आत्मा को ध्याता है, उसके प्रत्याख्यान होता है । (त्याग का संकल्प
 ही प्रत्याख्यान है ।)
२२५. णियभावं ण वि मुच्चइ, परभावं णेव गेणहए केइं ।
 जाणदि पस्सदि सव्वं, सोऽहं इदि चिंतए णाणी ॥१२ ॥
 जो निज-भाव को नहीं छोड़ता और किसी भी पर-भाव को ग्रहण नहीं करता
 तथा जो सबका ज्ञाता-द्रष्टा है, वह परमतत्त्व 'मैं' ही हूँ । आत्मध्यान में लीन ज्ञानी
 ऐसा चिन्तन करता है ।
२२६. जं किंचि मे दुच्चरितं, सव्वं तिविहेण वोसिरे ।
 सामाइयं तु तिविहं, करेमि सव्वं णिरायारं ॥१३ ॥
 वह विचार करता है कि जो कुछ भी मेरा दुश्चरित्र है, उस सबको मैं मन-
 वचन-कायपूर्वक विसर्जित करता हूँ और निर्विकल्प होकर त्रिविध सामायिक
 करता हूँ ।

२१. तपसूत्र

२२७. जत्थ कसायणिरोहो, बंभं जिणपूयणं अणसणं च ।

सो सव्वो चेष तवो, विसेसओ मुद्धलोयमि ॥१॥

जहाँ आत्मलाभ के लिए कषायों का निरोध, ब्रह्मचर्य का पालन, जिनपूजन तथा अनशन किया जाता है, वह सब तप है । विशेषकर मुग्ध अर्थात् भक्तजन यही तप करते हैं ।

२२८. हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा ।

न ते विज्जा तिगिच्छंति, अप्पाणं ते तिगिच्छगा ॥२॥

जो मनुष्य हित-मित तथा अल्प आहार करते हैं, उन्हें कभी वैद्य से चिकित्सा कराने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती । वे तो स्वयं अपने चिकित्सक होते हैं, अपनी अन्तर्शुद्धि में लगे रहते हैं ।

२२९. अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ ।

काय-किलेसो संलीणया य, बज्झो तवो होइ ॥३॥

अनशन (उपवास), अवमौदर्य (आवश्यकता से कम भोजन करना), भिक्षाचर्या, रस-परित्याग, कायक्लेश और संलीनता (एकान्त शयन)—इस तरह बाह्यतप छह प्रकार का है ।

२३०. जे पयणुभत्तपाणा, सुयहेऊ ते तवस्सिणो समए ।

जो अ तवो सुयहीणो, बाहिरयो सो छुहाहारो ॥४॥

जो शास्त्राभ्यास के लिए अल्प-आहार करते हैं वे ही आगम में तपस्वी माने गये हैं । श्रुतविहीन अनशन-तप तो केवल भूख का आहार करना है अर्थात् भूखे मरना है ।

२३१. सो नाम अणसणतवो, जेण मणोऽमंगुलं न चिंतेइ ।

जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा न हायंति ॥५॥

वास्तव में वही अनशन-तप है जिससे मन में अमंगल की चिन्ता उत्पन्न न हो, इन्द्रियों की हानि (शिथिलता) तथा मन-वचन-कार्यरूप योगों की हानि (गिरावट) न हो ।

२३२. बलं थामं च पेहाए, सिद्धीमारोग्गमंष्णो ।

खेतं कालं च विन्नाय, तहप्पाणं निजुंजए ॥६ ॥

अपने बल, तेज, श्रद्धा तथा आरोग्य का निरीक्षण करके तथा क्षेत्र और काल को जानकर अपने को उपवास में नियुक्त करना चाहिए । क्योंकि शक्ति से अधिक उपवास करने से हानि होती है ।

२३३. उवसमणो अक्खाणं, उववासो वण्णिदो समासेण ।

तम्हा भुंजंता वि य, जिदिंदिया होंति उववासा ॥७ ॥

संक्षेप में इन्द्रियों के उपशमन को ही उपवास कहा गया है । जितेन्द्रिय लोग भोजन करते हुए भी उपवासी ही होते हैं ।

२३४. छट्टुमदसमदुवालसेहिं, अबहुसुयस्स जा सोही ।

तत्तो बहुतरगुणिया, हविज्ज जिमियस्स नाणिस्स ॥८ ॥

अबहुश्रुत अर्थात् अज्ञानी तपस्वी की जितनी विशुद्धि दो-चार दिनों के उपवास से होती है, उससे बहुत अधिक विशुद्धि नित्य भोजन करने वाले ज्ञानी की होती है ।

२३५. पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्जावो ।

झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भितरो तवो ॥९ ॥

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग)—इस तरह छह प्रकार का आभ्यन्तर तप है ।

२३६. जह बालो जंपन्तो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ ।

तं तह आलोइज्जा, मायामयविष्णमुक्को वि ॥१० ॥

जैसे बालक अपने कार्य-अकार्य को सरलतापूर्वक माँ के समक्ष व्यक्त कर देता है, वैसे ही हमें भी अपने समस्त दोषों की आलोचना माया-मद (छल-छद्म) त्यागकर करनी चाहिए ।

२३७-८. जह कंटएण विद्धो, सव्वंगे वेयणाहिओ होइ ।

तह चेव उद्धियम्मि उ, निस्सल्लो निव्वुओ होइ ॥११ ॥

एवमणुद्धियदोसो, माइल्लो तेणं दुक्खिओ होइ ।

सो चैव चत्तदोसो, सुविसुद्धो निव्वुओ होइ ॥१२ ॥

जैसे काँटा चुभने पर सारे शरीर में वेदना होती है और काँटे के निकल जाने पर शरीर निःशल्य अर्थात् सर्वांग सुखी हो जाता है, वैसे ही अपने दोषों को प्रकट न करने वाला मायावी दुःखी या व्याकुल रहता है और उनको गुरु के समक्ष प्रकट कर देने पर सुविशुद्ध होकर सुखी हो जाता है ।

२३९. जो पस्सदि अप्पाणं, समभावे संठवित्तु परिणामं ।

आलोचयणमिदि जाणह, परमजिणंदस्स उवएसं ॥१३ ॥

अपने परिणामों को समभाव में स्थापित करके आत्मा को देखना ही आलोचना है । ऐसा जिनेन्द्रदेव का उपदेश है ।

२४०. अब्भुट्टाणं अंजलिकरणं, तहेवासणदायणं ।

गुरुभक्तिभावसुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ ॥१४ ॥

गुरु तथा वृद्धजनों के समक्ष आने पर खड़े होना, हाथ जोड़ना, उन्हें उच्च आसन देना, गुरुजनों की भावपूर्वक भक्ति तथा सेवा करना विनय तप है ।

२४१. एकम्मि हीलियम्मि, हीलिया हुंति ते सव्वे ।

एकम्मि पूइयम्मि, पूइया हुंति सव्वे ॥१५ ॥

एक के तिरस्कार में सबका तिरस्कार होता है और एक की पूजा में सबकी पूजा होती है । (इसलिए जहाँ कहीं कोई पूज्य या वृद्धजन दिखाई दें, उनका विनय करना चाहिए ।)

२४२. विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे ।

विणयाओ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो ? ॥१६ ॥

विनय जिनशासन का मूल है । संयम तथा तप से विनीत बनना चाहिए । जो विनय से रहित है, उसका कैसा धर्म और कैसा तप ?

२४३. विणओ मोक्खद्वारं, विणयादो संजमो तवो णाणं ।

विणएणाराहिज्जदि, आइरिओ सव्वसंघो य ॥१७ ॥

विनय मोक्ष का द्वार है । विनय से संयम, तप तथा ज्ञान प्राप्त होता है । विनय से

आचार्य तथा सर्वसंघ की आराधना होती है ।

२४४. विणयाहीया विज्जा, देति फलं इह परे य लोगम्मि ।

न फलंति विणयहीणा, सस्साणि व तोयहीणाइं ॥१८ ॥

विनयपूर्वक प्राप्त की गयी विद्या इस लोक तथा परलोक में पलदायिनी होती है और विनयविहीन विद्या वैसे ही फलप्रद नहीं होती, जैसे बिना जल के धान्य नहीं उपजता ।

२४५. तम्हा सब्बपयत्ते, विणीयत्तं मा कदाइ छंडेज्जा ।

अप्पसुदो वि य पुरिसो, खवेदि कम्माणि विणएण ॥१९ ॥

इसलिए सब प्रकार का प्रयत्न करके विनय को कभी नहीं छोड़ना चाहिए । अल्पश्रुत का अभ्यासी पुरुष भी विनय के द्वारा कर्मों का नाश करता है ।

२४६. अब्धाणतेण-सावद-राय-णदीरोधणासिवे ओमे ।

वेज्जावच्चं उत्तं, संगहसारक्खणोवेदं ॥२० ॥

जो मार्ग में चलने से थक गये हैं, चोर, श्वापद (हिस्र पशु), राजा द्वारा व्यथित, नदी की रुकावट, मरी (प्लेग) आदि रोग तथा दुर्भिक्ष से पीड़ित हैं, उनकी सार-सम्हाल, सेवा तथा रक्षा करना वैयावृत्य है ।

२४७. पूयादिसु णिरवेक्खो, जिण-सत्थं जो पढेइ भत्तीए ।

कम्ममल-सोहणट्टं, सुयलाहो सुहयरो तस्स ॥२१ ॥

आदर-सत्कार की अपेक्षा से रहित होकर जो कर्मरूपी मल को धोने के लिए भक्तिपूर्वक जिनशास्त्रों को पढ़ता है, उसका श्रुतलाभ स्व-पर सुखकारी होता है ।

२४८. सज्झायं जाणंतो, पंचिदियसंवुडो तिगुत्तो य ।

होइ य एकग्गमणो, विणएण समाहिओ साहू ॥२२ ॥

स्वाध्यायी पुरुष पाँचों इन्द्रियों से संवृत, तीन गुणियों से युक्त, विनय से समाहित तथा एकाग्रमन होता है ।

२४९. णाणेण ज्ञाणासिद्धी, ज्ञाणादो सव्वकम्मणिज्जरणं ।
णिज्जरणफलं मोक्खं, णाणब्भासं तदो कुज्जा ॥२३ ॥
ज्ञान से ध्यान की सिद्धि होती है । ध्यान से सब कर्मों की निर्जरा (क्षय) होती है ।
निर्जरा का फल मोक्ष है । अतः सतत ज्ञानाभ्यास करना चाहिए ।

२५०. नाणमेगगचित्तो अ, ठिओ अ ठावयई परं ।
सुआणि अ अहिज्जित्ता, रओ सुअसमाहिए ॥२४ ॥
अध्ययन के द्वारा व्यक्ति को ज्ञान और चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है । वह
स्वयं धर्म में स्थित होता है और दूसरों को भी स्थिर करता है तथा अनेक प्रकार
के श्रुत का अध्ययन कर वह श्रुतसमाधि में रत हो जाता है ।

२५१. सयणासणठाणे वा, जे उ भिक्खू न वावरे ।
कायस्स विउस्सग्गो, छट्ठो सो परिकित्तिओ ॥२५ ॥
साधक का शयन, आसन और खड़े होने में व्यर्थ का कायिक व्यापार न करना,
काष्ठवत् रहना, छटा कायोत्सर्ग तप है ।

२५२. देहमइज्जुसुद्धी, सुहदुक्खतितिक्खया अणुप्पेहा ।
ज्ञायइ य सुहं ज्ञाणं, एगग्गो काउसग्गम्मि ॥२६ ॥
कायोत्सर्ग करने से देह और बुद्धि की जड़ता की शुद्धि होती है, सुख-दुःख सहने
की शक्ति प्राप्त होती है, भावों की अनुप्रेक्षा होती है और शुभ ध्यान के लिए
एकाग्रता की प्राप्ति होती है ।

२५३. तेसिं तु तवो ण सुद्धो, निक्खंता जे महाकुला ।
जं नेवन्ने वियाणंति, न सिलोगं पवेज्जइ ॥२७ ॥
उन महाकुल वालों का तप भी शुद्ध नहीं है, जो प्रव्रज्या धारणकर पूजा-सत्कार
के लिए तप करते हैं । तप इस तरह करना चाहिए कि औरों को पता तक न चले
और अपने तप की किसी के समक्ष प्रशंसा भी न हो ।

२५४. नाणमयवायसहिओ, सीलुज्जलिओ तवो मओ अग्गी ।
संसारकरणबीयं, दहइ दवग्गी व तणरासिं ॥२८ ॥
ज्ञानमयी वायु सहित तथा शील द्वारा प्रज्वलित तपोमयी अग्नि संसार के

कारणभूत कर्म-बीज को वैसे ही जला डालती है, जैसे वन में लगी प्रचण्ड अग्नि तृण-राशि को ।

२२. ध्यानसूत्र

२५५. सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुमस्स य ।
सव्वस्स साधुधम्मस्स, तहा झाणं विधीयते ॥१ ॥
जैसे शरीर में सिर और वृक्ष में उसकी जड़ मुख्य है, वैसे ही साधु के समस्त साधु-धर्मों का मूल ध्यान है ।
२५६. जं थिरमज्झवसाणं, तं झाणं जं चलंतयं चित्तं ।
तं होज्ज भावणा वा, अणुपेहा वा अहव चिंता ॥३ ॥
स्थिर अध्यवसान अर्थात् मानसिक एकाग्रता ही ध्यान है । चित्त की जो चंचलता है उसके तीन रूप हैं—भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता ।
२५७. लवण व्व सलिलजोए, झाणे चित्तं विलीयए जस्स ।
तस्स सुहासुहडहणो, अण्णाअणलो पयासेइ ॥४ ॥
जैसे पानी का योग पाकर नमक विलीन हो जाता है, वैसे ही जिसका चित्त निर्विकल्प समाधि में लीन हो जाता है, उसकी चिर संचित शुभाशुभ कर्मों को भस्म करने वाली, आत्मरूप अग्नि प्रकट होती है ।
२५८. जस्स न विज्जदि रागो, दोसो मोहो व जौगपरिकम्मो ।
तस्स सुहासुहडहणो, झाणमओ जायए अग्गी ॥५ ॥
जिसके राग-द्वेष और मोह नहीं हैं तथा मन-वचन-कायरूप योगों का व्यापार नहीं रह गया है, उसमें समस्त शुभाशुभ कर्मों को जलाने वाली ध्यानाग्नि प्रकट होती है ।
२५९. पुव्वाभिमुहो उत्तरमुहो व, होऊण सुइ-समायारो ।
झाया समाहिजुत्तो, सहासणत्थो सुसरीरो ॥६ ॥
पूर्व या उत्तर दिशाभिमुख होकर बैठने वाला शुद्ध आचार तथा पवित्र शरीर

वाला ध्याता सुखासन से स्थित हो समाधि में लीन होता है ।

२६०. पलियंकं बंधेउं, निसिद्धमण-वयणकायवावारो ।

नासगनिमियनयणो, मंदीकयसासनीसासो ॥७॥

वह ध्याता पल्यंकासन बाँधकर और मन-वचन-काय के व्यापार को रोककर दृष्टि को नासिकाग्र पर स्थित करके मन्द-मन्द श्वासोच्छ्वास ले ।

२६१. गरहियनियदुच्चरिओ, खामियसतो नियत्तियपमाओ ।

निच्चलचित्तो ता झाहि, जाव पुरओव्व पडिहाइ ॥८॥

वह अपने पूर्वकृत बुरे आचरण की गर्हा करे, सब प्राणियों से क्षमाभाव चाहे, प्रमाद को दूर करे और चित्त को निश्चल करके तब तक ध्यान करे जब तक पूर्वबद्ध कर्म नष्ट न हो जायें ।

२६२. थिरकयजोगाणं पुण, मुणीण झाणे सुनिच्चलमणाणं ।

गामम्मि जणाइण्णे, सुण्णे रण्णे व ण विसेसो ॥९॥

जिन्होंने अपने योग अर्थात् मन-वचन-काय को स्थिर कर लिया है और जिनका ध्यान में चित्त पूरी तरह निश्चल हो गया है, उन मुनियों के ध्यान के लिए घनी आबादी के ग्राम अथवा शून्य अरण्य में कोई अन्तर नहीं रह जाता ।

२६३. जे इदियाणं विसया मणुण्णा, न तेसु भावं निसिरे कयाइ ।

न याऽमणुण्णेसु मणं पि कुज्जा, समाहिकामे समणे तवस्सी ॥१०॥

समाधि की भावना वाला तपस्वी-श्रमण इन्द्रियों के अनुकूल विषयों में कभी रागभाव न करे और प्रतिकूल विषयों में मन से भी द्वेषभाव न करे ।

२६४. सुविदिय-जगस्सभावो, निस्संगो निब्भओ निरासो य ।

वेरग्ग-भावियमणो, झाणांमि सुनिच्चलो होइ ॥११॥

जो संसार के स्वरूप से सुपरिचित है, निःसंग, निर्भय तथा आशारहित है तथा जिसका मन वैराग्य-भावना से युक्त है, वही ध्यान में सुनिश्चल—भली-भाँति स्थित होता है ।

२६५. पुरीसायारो अप्पा, जोई वरणाणदंसण-समग्गो ।

जो झायंदि सो जोई, पावहरो हवदि णिहंदो ॥१२ ॥

जो योगी पुरुषाकार तथा केवलज्ञान व केवलदर्शन से पूर्ण आत्मा का ध्यान करता है, वह कर्मबन्धन को नष्ट करके निर्द्वन्द्व हो जाता है ।

२६६. देहविवित्तं पेच्छइ, अप्पाणं तह य सव्वसंजोगे ।

देहोवहि-वोसग्गं, निस्संगो सव्वहा कुणइ ॥१३ ॥

ध्यान-योगी अपनी आत्मा को शरीर तथा समस्त बाह्य संयोगों से भिन्न देखता है । वह देह तथा उपधि का व्युत्सर्ग अर्थात् त्याग करके निःसंग हो जाता है ।

२६७. णाहं होमि परेसिं, ण मे परे संति णाणमहमेक्को ।

इदि जो झायदि झाणे, सो अप्पाण हवदि झादा ॥१४ ॥

वही श्रमण आत्मा का ध्याता है जो ध्यान में चिन्तवन करता है कि “मैं न ‘पर’ का हूँ, न ‘पर’ पदार्थ या भाव मेरे हैं, मैं तो एक शुद्ध-बुद्ध ज्ञानमय चैतन्य हूँ ।”

२६८. झाणट्ठिओ हु जोई, जइणो संवेय णिययअप्पाणं ।

तो ण लहइ तं सुद्धं, भग्गविहीणो जहा रयणं ॥१५ ॥

ध्यान में स्थित योगी यदि अपनी आत्मा का संवेदन नहीं करता तो वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता; जैसे कि भाग्यहीन व्यक्ति रत्न प्राप्त नहीं कर सकता ।

२६९. भावेज्ज अवत्थतियं, पिंडत्थ-पयत्थं-रूवरहियत्तं ।

छउमत्थ-केवलित्तं, सिद्धत्तं चैव तस्सत्थो ॥१६ ॥

ध्यान करने वाला साधक पिंडस्थ, पदस्थ और रूपातीत—इन तीनों अवस्थाओं की भावना करे । पिंडस्थ ध्यान का विषय है—छद्यस्थत्व-अर्थात् देह-विपश्यना । पदस्थध्यान का विषय है केवलित्व अर्थात् कैवल्य-स्वरूप का अनुचितन और रूपातीतध्यान का विषय है सिद्धत्व अर्थात् शुद्ध आत्मा ।

२७०. अवि झाइ से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए झाणं ।

उड्डुमहे तिरियं च, पेहमाणे समाहिमपडिण्णे ॥१७ ॥

महावीर उकडूँ आदि आसनों में स्थित और स्थिर होकर ध्यान करते थे । वे

ऊँचे-नीचे और तिरछे लोक में होने वाले पदार्थों को ध्येय बनाते थे । उनकी दृष्टि आत्म-समाधि पर टिकी हुई थी । वे संकल्प-मुक्त थे ।

२७१. णातीतमद्वं ण य आगमिस्सं, अद्वं नियच्छंति तहागया उ ।

विधूतकम्पे एयाणुपस्सी, णिज्झोसइत्ता खवगे महेसी ॥१८ ॥

तथागत अतीत और भविष्य के अर्थ को नहीं देखते । कल्पना-मुक्त महर्षि वर्तमान का अनुपश्यी हो, कर्म-शरीर का शोषण कर उसे क्षीण कर डालता है ।

२७२. मा चिदुह मा जंपह, मा चिन्तह किं वि जेण होइ थिरो ।

अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवे झाणं ॥१९ ॥

हे ध्याता ! तू न तो शरीर से कोई चेष्टा कर, न वाणी से कुछ बोल और न मन से कुछ चिन्तन कर, इस प्रकार त्रियोग का निरोध करने से तू स्थिर हो जाएगा—तेरी आत्मा आत्मरत हो जायेगी । यही परम ध्यान है ।

२७३. न कसायसमुत्थेहि य, वहिज्जइ माणसेहिं दुक्खेहिं ।

ईसा-विसाय-सोगा-इएहिं झाणोवगयचित्तो ॥२० ॥

जिसका चित्त इस प्रकार के ध्यान में लीन है, वह आत्मध्यानी पुरुष कषाय से उत्पन्न ईर्ष्या, विषाद, शोक आदि मानसिक दुःखों से बाधित नहीं होता ।

२७४. जह चिरसंचियमिधण-मनलो पवणसहिओ दुयं दहइ ।

तह कम्मंघणममित्तं, खणेण झाणानलो डहइ ॥२१ ॥

जैसे चिरसंचित ईंधन को वायु से उद्दीप्त आग तत्काल जला डालती है, वैसे ही ध्यान रूपी अग्नि अपरिमित कर्म-ईंधन को क्षणभर में भस्म कर डालती है ।

२३. अनुप्रेक्षासूत्र

२७५. झाणोवरमेऽवि मुणी, णिच्चमणिच्चाइ भावणापरमो ।

होइ सुभावियचित्तो, धम्मज्झाणेण जो पुव्वि ॥१ ॥

मोक्षार्थी सर्वप्रथम धर्म-ध्यान द्वारा अपने चित्त को सुभावित करे । बाद में धर्म-ध्यान से उपरत होने पर भी सदा अनित्य-अशरण आदि भावनाओं के चिन्तवन में लीन रहे ।

२७६. अद्धवमसरणमेगत्त-मन्नत्तसंसारलोयमसुइत्तं ।

आसवसंवरणिज्जर, धम्मं बोहिं च चिंतिज्ज ॥२ ॥

अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि—इन बारह भावनाओं का चिन्तवन करना चाहिए ।

२७७. जम्मं मरणेण समं, संपज्जइ जोव्वणं जरासहियं ।

लच्छी विणास-सहिया, इय सव्वं भंगुर-मुणह ॥३ ॥

जन्म मरण के साथ जुड़ा हुआ है और यौवन वृद्धावस्था के साथ । लक्ष्मी चंचला है । इस प्रकार संसार में सब-कुछ क्षण-भंगुर है—अनित्य है ।

२७८. वित्तं पसवो य णाइओ, तं बाले सरणं ति मण्णइ ।

एए मम तेसिं वा अहं, णो ताणं सरणं ण विज्जई ॥४ ॥

अज्ञानी जीव धन, पशु तथा ज्ञातिवर्ग को अपना रक्षक या शरण मानता है कि ये मेरे हैं और मैं इनका हूँ । किन्तु वास्तव में ये सब न तो रक्षक हैं और न शरण ।

२७९. रयणत्तय-संजुत्तो, जीवो वि हवेइ उत्तमं तित्थं ।

संसारं तरइ जदो, रयणत्तय-दिव्व-णावाए ॥५ ॥

वास्तव में रत्नत्रय से सम्पन्न जीव ही उत्तम तीर्थ (तट) है, क्योंकि वह रत्नत्रय रूपी दिव्य नौका द्वारा संसार-सागर से पार करता है ।

२८०. पत्तेयं पत्तेयं नियगं, कम्मफलमणुहवंताणं ।

को कस्स जए सयणो ? को कस्स व परजणो भणिओ ? ॥६ ॥

प्रत्येक जीव अपने-अपने कर्मफल को अकेला ही भोगता है । ऐसी स्थिति में कौन किसका स्वजन है और कौन किसका परजन ?

२८१. एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ ।

सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥७ ॥

ज्ञान और दर्शन से संयुक्त मेरी एक आत्मा ही शाश्वत है । शेष सब बाह्य भाव हैं, संयोग-सम्बन्ध मात्र हैं ।

२८२. अणुसोअइ अन्नजणं, अन्नभवंतरगयं तु बालजणो ।
 नवि सोयइ अप्पाणं, किलिस्समाणं भवसमुहे ॥८ ॥
 अज्ञानी मनुष्य अन्य भवों में गये हुए दूसरे लोगों के लिए तो शोक करता है,
 किन्तु भव-सागर में कष्ट भोगने वाली अपनी आत्मा की चिन्ता नहीं करता !
२८३. जो जाणिऊण देहं, जीवसरूवाटु तच्चदो भिन्नं ।
 अप्पाणं पि य सेवदि, कज्जकरं तस्स अण्णत्तं ॥९ ॥
 जो शरीर को जीव के स्वरूप से तत्त्वतः भिन्न जानकर आत्मा का अनुचिन्तन
 करता है, उसकी अन्यत्व भावना कार्यकारी है ।
२८४. मंसट्टियसंघाए, मुत्तपुरीसभरिए नवच्छिहे ।
 असुइं परिस्सवंते, सुहं सरीरम्मि किं अत्थि ? ॥१० ॥
 मांस और हड्डी के मेल से निर्मित, मल-मूत्र से भरे, नौ छिद्रों के द्वारा अशुचि
 पदार्थ को बहाने वाले शरीर में क्या सुख हो सकता है ?
२८५. एदे मोहय-भावा, जो परिवज्जेइ उवसमे लीणो ।
 हेयं ति मन्नमाणो, आसवअणुवेहणं तस्स ॥११ ॥
 मोह के उदय से उत्पन्न होने वाले इन सब भावों को त्यागने योग्य जानकर
 उपशम (साम्य) भाव में लीन व्यक्ति इनका त्याग कर देता है । यह उसकी
 आस्रव-अनुप्रेक्षा है ।
२८६. मणवयणकायगुत्ति-दियस्स समिदीसु अप्पमत्तस्स ।
 आसवदारणिरोहे, णवकम्मरयासवो ण हवे ॥१२ ॥
 मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति के द्वारा इन्द्रियों को वश में करने वाला तथा
 समितियों के पालन में अप्रमत्त साधक के आस्रवद्वारों का निरोध हो जाने पर
 नवीन कर्म-रज का आस्रव नहीं होता है । यह संवर-अनुप्रेक्षा है ।
२८७. बंधप्पदेस-ग्गलणं णिज्जरणं इदि जिणे हि पणत्तं ।
 जेण हवे संवरणं तेण दु णिज्जरण मिदि जाण ॥१३ ॥
 बँधे हुए कर्म-प्रदेशों के क्षरण को निर्जरा कहा जाता है । जिन कारणों से संवर
 होता है, उन्हीं कारणों से निर्जरा होती है ।

२८८. जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं ।

धम्मो दीवो पइट्ठा य, गइं सरणमुत्तमं ॥१४ ॥

जरा और मरण के तेज प्रवाह में बहते-डूबते हुए प्राणियों के लिए धर्म ही द्वीप है, प्रतिष्ठा है, गति है तथा उत्तम शरण है ।

२८९. माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुइं धम्मस्स दुल्लहा ।

जं सोच्चा पविज्जंति तवं खंतिमहिसयं ॥१५ ॥

मनुष्य-शरीर प्राप्त होने पर भी ऐसे धर्म का श्रवण तो दुर्लभ ही है, जिसे सुनकर तप, क्षमा और अहिंसा को प्राप्त किया जाए ।

२९०. आहच्च सवणं लद्धुं, सद्धा परमदुल्लहा ।

सोच्चा नेआउयं मग्गं, बहवे परिभस्सई ॥१६ ॥

कदाचित् धर्म का श्रवण हो भी जाये, तो उस पर श्रद्धा होना परम दुर्लभ है । क्योंकि बहुत-से लोग न्यायसंगत मोक्षमार्ग का श्रवण करके भी उससे विचलित हो जाते हैं ।

२९१. सुइं च लद्धं सद्धं च, वीरियं पुण दुल्लहं ।

बहवे रोयमाणा वि, नो एणं पडिवज्जाए ॥१७ ॥

धर्म-श्रवण तथा श्रद्धा हो जाने पर भी पुरुषार्थ होना और दुर्लभ है । बहुत-से लोग संयम में अभिरुचि रखते हुए भी उसे सम्यक्-रूपेण स्वीकार नहीं कर पाते ।

२९२. भावणाजोग-सुद्धप्पा, जले णावा व आहिया ।

नावा व तीर-संपण्णा, सव्वदुक्खा तिउट्टइ ॥१८ ॥

भावना-योग से शुद्ध आत्मा को जल में नौका के समान कहा गया है । जैसे अनुकूल पवन का सहारा पाकर नौका किनारे पर पहुँच जाती है, वैसे ही शुद्ध आत्मा संसार के पार पहुँचती है, जहाँ उसके समस्त दुःखों का अन्त हो जाता है ।

२४. लेश्यासूत्र

२९३. जोगपउत्ती लेस्सा, कसायउदयाणुरंजिया होई ॥१ ॥
कषाय के उदय से अनुरंजित मन-वचन-काय की योग-प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं ।

२९४. किण्हा णीला काऊ, तेऊ पम्मा य सुक्कलेस्सा य ।
लेस्साण णिहेसा, छच्चेव हवंति णियमेण ॥२ ॥
लेश्याएँ छह प्रकार की हैं—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या (पीतलेश्या), पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या ।

२९५. किण्हा नीला काऊ, तिण्णि वि एयाओ अहम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गइं उववज्जई बहुसो ॥३ ॥
कृष्ण, नील और कापोत ये तीनों अधर्म या अशुभ लेश्याएँ हैं । इनके कारण जीव विविध दुर्गतियों में उत्पन्न होता है ।

२९६. तेऊ पम्हा सुक्का, तिण्णि वि एयाओ धम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गइं उववज्जई बहुसो ॥४ ॥
पीत (तेज), पद्म और शुक्ल ये तीनों धर्म या शुभ लेश्याएँ हैं । इनके कारण जीव विविध सुगतियों में उत्पन्न होता है ।

२९७-८. पहिया जे छ प्पुरिसा, परिभट्टारणमज्झदेसमिह ।
फलभरियरुक्खमेगं, पेक्खित्ता ते विचिंतंति ॥५ ॥
णिम्मूलखंधसाहु-वसाहं छित्तुं चिणित्तु पडिदाइं ।
खाउं फलाइं इदि, जं मणोण वयाणं हवे कम्मं ॥६ ॥

छह पथिक थे । जंगल के बीच जाने पर वे भटक गये । फलों से लदे वृक्ष को देखकर वे विचार करने लगे । एक ने सोचा कि पेड़ को जड़-मूल से काटकर इसके फल खाये जायें । दूसरे ने सोचा कि केवल स्कन्ध ही काटा जाये । तीसरे ने विचार किया कि शाखा ही तोड़ना ठीक रहेगा । चौथा सोचने लगा कि उपशाखा (छोटी डाल) ही तोड़ ली जाये । पाँचवाँ चाहता था कि फल ही तोड़े जायें । छठे ने सोचा कि वृक्ष से टपककर नीचे गिरे हुए पके फल ही

चुनकर क्यो न खाये जाये । इन छहों पथिकों के विचार, वाणी तथा कर्म क्रमशः
छहों लेश्याओं के उदाहरण हैं ।

२९९. चंडो ण मुंचइ वेरं, भंडणसीलो य धरमदयरहिओ ।

दुट्टो ण य एदि वसं, लक्खणमेयं तु किण्हस्स ॥७ ॥

स्वभाव की प्रचण्डता, वैर की मजबूत गाँठ, झगड़ालू वृत्ति, धर्म और दया से
शून्यता, दुष्टता, समझाने से भी नहीं मानना—ये कृष्णलेश्या के लक्षण हैं ।

३००. मंदो बुद्धिविहीणो, णिव्विणाणी य विसयलोलो य ।

लक्खणमेयं भणियं, समासदो णीललेस्सस्स ॥८ ॥

मन्दता, बुद्धिहीनता, अज्ञान और विषयलोलुपता—ये संक्षेप में नीललेश्या के
लक्षण हैं ।

३०१. रूसइ णिंदइ अन्ने, दूसइ बहुसो य सोयभयबहुलो ।

ण गणइ कज्जाकज्जं, लक्खणमेयं तु काउस्स ॥९ ॥

जल्दी रुष्ट हो जाना, दूसरों की निन्दा करना, दोष लगाना, अति शोकाकुल होना,
अत्यन्त भयभीत होना—ये कापोतलेश्या के लक्षण हैं ।

३०२. जाणइ कज्जाकज्जं, सेयमसेयं च सव्वसमपासी ।

दयदाणरदो य मिदू, लक्खणमेयं तु तेउस्स ॥१० ॥

कार्य-अकार्य का ज्ञान, श्रेय-अश्रेय का विवेक, सबके प्रति समभाव, दया-दान में
प्रवृत्ति—ये तेजोलेश्या के लक्षण हैं ।

३०३. चागी भहो चोक्खो, अज्जवकम्मो य खमदि बहुगं पि ।

साहुगुरुपूजणरदो, लक्खणमेयं तु पम्मस्स ॥११ ॥

त्यागशीलता, परिणामों में भद्रता, व्यवहार में प्रामाणिकता, कार्य में ऋजुता,
अपराधियों के प्रति क्षमाशीलता, साधु-गुरुजनों की पूजा-सेवा में तत्परता—ये
पद्मलेश्या के लक्षण हैं ।

३०४. ण य कुणइ पक्खवायं, ण वि य णिदाणं समो य सव्वेसिं ।

णत्थि य रागहोसा, णेहो वि य सुक्कलेस्सस्स ॥१२ ॥

पक्षपात न करना, भोगों का निदान न करना, सबमें समदर्शी रहना, राग, द्वेष तथा स्नेह से दूर रहना—शुक्ललेश्या के लक्षण हैं ।

३०५. लेस्सासोधी अज्झवसाण-विसोधीए होइ जीवस्स ।

अज्झवसाणविसोधि, मंदकसायस्स णायव्वा ॥१३॥

आत्मपरिणामों में विशुद्धि आने से लेश्या की विशुद्धि होती है और कषायों की मन्दता से परिणाम विशुद्ध होते हैं ।

२५. गुणस्थानसूत्र

३०६. जेहिं दु लक्खिज्जते, उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं ।

जीवा ते गुणसण्णा, णिद्धिडा सव्वदरिसीहिं ॥१॥

मोहनीय आदि कर्मों के उदय (उपशम, क्षय, क्षयोपशम) आदि से होने वाले जिन परिणामों से युक्त जीव पहचाने जाते हैं, उनको सर्वदर्शी जिनेन्द्रदेव ने 'गुण' या 'गुणस्थान' की संज्ञा दी है । अर्थात् सम्यक्त्व आदि की अपेक्षा जीवों की अवस्थाएँ—श्रेणियाँ—भूमिकाएँ गुणस्थान कहलाती हैं ।

३०७.८. मिच्छो सासण मिस्सो, अविरदसमो य देसविरदो य ।

विरदो पमत्त इयरो, अपुव्व अणियट्ठि सुहुमो य ॥२॥

उवसंत खीणमोहो, सजोगिकेवलिजिणो अजोगी य ।

चोहस गुणट्ठाणाणि य, कमेण सिद्धा य णायव्वा ॥३॥

मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगिकेवलीजिन, अयोगिकेवलीजिन—ये क्रमशः चौदह गुणस्थान हैं । सिद्धजीव गुणस्थानातीत होते हैं ।

३०९. तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं, तच्चाण होदि अत्थाणं ।

संसइदमभिग्गहियं, अणभिग्गहियं तु तं तिविहं ॥४॥

तत्त्वार्थ के प्रति श्रद्धा का अभाव मिथ्यात्व है । यह तीन प्रकार का है—संशयित, अभिगृहीत (सत्य पर अश्रद्धा) और अनभिगृहीत (जन्मजात अश्रद्धा) ।

३१०. सम्मत्तरयणपव्वय-सिहरादो मिच्छभावसमभिमुहो ।

णासियसम्मत्तो सो, सासणणामो मुणेयव्वो ॥५॥

सम्यक्त्व-रत्नरूपी पर्वत के शिखर से गिरकर जो जीव मिथ्यात्व-भाव की ओर अभिमुख हो गया है, परन्तु सम्यक्त्व के नष्ट हो जाने पर भी जिसने अभी साक्षात्-रूपेण मिथ्यात्वभाव में प्रवेश नहीं किया है, उस मध्यवर्ती अवस्था को सासादन नामक गुणस्थान कहते हैं ।

३११. दहिगुडमिव व मिस्सं, पिहुभावं णेव कारिदुं सक्कं ।

एवं मिस्सयभावो, सम्माभिच्छो त्ति णायव्वो ॥६॥

दही और गुड़ के मेल से स्वाद की तरह सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का मिश्रित भाव या परिणाम—जिसे अलग नहीं किया जा सकता, सम्यक्-मिथ्यात्व या मिश्र गुणस्थान कहलाता है ।

३१२. णो इंदिएसु विरदो, णो जीवे थावरे तसे चावि ।

जो सहहइ जिणत्तुं, सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥७॥

जो न तो इन्द्रिय-विषयों से विरत है और न त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से विरत है, लेकिन जिनेन्द्र-प्ररूपित तत्त्वार्थ का श्रद्धान करता है, वह व्यक्ति अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती कहलाता है ।

३१३. जो तसवहाउविरदो, णो विरओ एत्थ-थावरवहाओ ।

पडिसमयं सो जीवो, विरयाविरओ जिणेक्कमई ॥८॥

जो त्रस (द्विन्द्रियादि) जीवों की हिंसा से तो विरत हो गया है, परन्तु एकेन्द्रिय स्थावर जीवों (वनस्पति आदि) की हिंसा से विरत नहीं हुआ है तथा जिनेश्वर भगवान् में एकनिष्ठ श्रद्धा रखता है, वह श्रावक देशविरत गुणस्थानवर्ती कहलाता है ।

३१४. वत्तावत्तपमाए, जो वसइ पमत्तसंजओ होइ ।

सयलगुणसीलकलिओ, महव्वई चित्तलायरणो ॥९॥

जिसने महाव्रत धारण कर लिये हैं, सकल शील-गुण से समन्वित हो गया है, फिर भी अभी जिसमें व्यक्त-अव्यक्तरूप में प्रमाद शेष है, वह प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती कहलाता है । इसका व्रताचरण किंचित् सदोष होता है ।

३१५. गढ्वासेसपमाओ, वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी ।
अणुवसमओ अखवओ, झाणणिलीणो हु अप्पमत्तो सो ॥१० ॥
जिसका व्यक्त-अव्यक्त सम्पूर्ण प्रमाद निःशेष हो गया है, जो ज्ञानी होने के साथ-साथ व्रत, गुण और शील की माला से सुशोभित हैं, फिर भी जो न तो मोहनीय कर्म का उपशम करता है और न क्षय करता है—केवल आत्मध्यान में लीन रहता है, वह ज्ञानी अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती कहलाता है ।
३१६. एयम्मि गुणढ्वाणे, विसरिससमयट्टिएहिं जीवेहिं ।
पुव्वमपत्ता जम्हा, होंति अपुव्वा हु परिणामा ॥११ ॥
इस आठवें गुणस्थान में विसदृश (विभिन्न) समयों में स्थित जीव ऐसे-ऐसे अपूर्व परिणामों (भावों) को धारण करते हैं, जो पहले कभी भी नहीं हो पाये थे । इसीलिए इसका नाम अपूर्वकरण गुणस्थान है ।
३१७. तारिसपरिणामट्टियजीवा, हु जिणेहिं गलियतिमिरेहिं ।
मोहस्सऽपुव्वकरणा, खवणुवसमणुज्जया भाणया ॥१२ ॥
अज्ञान-अंधकार को दूर करने वाले ज्ञानसूर्य जिनेन्द्रदेव ने उन अपूर्व-परिणामी जीवों को मोहनीय कर्म का क्षय या उपशम करने में तत्पर कहा है । (मोहनीय कर्म का क्षय या उपशम तो नौवें और दसवें गुण-स्थानों में होता है, किन्तु उसकी तैयारी इस अष्टम गुणस्थान में ही शुरू हो जाती है ।)
३१८. होंति अणियट्टिणो ते, पडिसमयं जेसिमेक्कपरिणामा ।
विमलयरझाणहुयवह-सिहाहिं णिहड्डुकम्मवणा ॥१३ ॥
वे जीव अनिवृत्तिकरण गुणस्थान वाले होते हैं, जिनके प्रतिसमय/निरन्तर एक ही परिणाम होता है । (इनके भाव अष्टम गुणस्थान वालों की तरह विसदृश नहीं होते ।) ये जीव निर्मलतर ध्यानरूपी अग्नि-शिखाओं से कर्म-वन को भस्म कर देते हैं ।
३१९. कोसुंभो जिह राओ, अब्भंतरदो य सुहुमरत्तो य ।
एवं सुहुमसराओ, सुहुमकसाओ त्ति णायव्वो ॥१४ ॥
कुसुम्भ (केसर) के हल्के रंग की तरह जिनके अन्तरंग में केवल सूक्ष्म राग शेष रह गया है, उन्हें सूक्ष्म-सराग या सूक्ष्म-कषाय जानना चाहिए ।

३२०. सकदकफलजलं वा, सरए सरवाणियं व णिम्लयं ।

सयलोरसंतमोहो, उवसंत-कसायओ होदि ॥१५॥

जैसे निर्मली-फल से युक्त जल अथवा शरदकालीन सरोवर का जल मिट्टी के बैठ जाने से निर्मल होता है, वैसे ही जिनका सम्पूर्ण मोह उपशान्त हो गया है, वे निर्मल परिणामी उपशान्त-कषाय कहलाते हैं ।

३२१. णिस्सेसखीणमोहो, फलिहामल-भायणुदय-समचित्तो ।

खीणकसाओ भण्णइ, णिगंथो वीयरएहिं ॥१६॥

सम्पूर्ण मोह पूरी तरह नष्ट हो जाने से जिनका चित्त स्फटिकमणि के पात्र में रखे हुए स्वच्छ जल की तरह निर्मल हो जाता है, उन्हें वीतरागदेव ने क्षीण-कषाय निर्ग्रन्थ कहा है ।

३२२-३. केवलणाणदिवायर-किरणकलाव-प्पणासिअण्णाणो ।

णवकेवल-लदधुग्गम-पावियपरमण्व-ववएसो ॥१७॥

असहायणाणदंसण-सहिओ वि हु केवली हु जोएण ।

जुत्तो त्ति सजोइज्जिणो, अणाइणिहणारिसे वुत्तो ॥१८॥

केवलज्ञान रूपी दिवाकर की किरणों के समूह से जिनका अज्ञान-अन्धकार सर्वथा नष्ट हो जाता है तथा नौ केवललब्धियों (सम्यक्त्व, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, दान, लाभ, भोग व उपभोग) के प्रकट होने से जिन्हे परमात्मा की संज्ञा प्राप्त हो जाती है, वे इन्द्रियादि की सहायता की अपेक्षा न रखने वाले ज्ञान-दर्शन से युक्त होने के कारण केवली और काययोग से युक्त होने के कारण सयोगी केवली (तथा घातिकर्मों के विजेता होने के कारण) जिन कहलाते हैं । ऐसा अनादिनिधन जिनागम में कहा गया है ।

३२४. सेलेसिं संपत्तो, णिरुद्धणिस्सेस-आसओ जीवो ।

कम्मरयविप्पमुक्को, गयजोगो केवली होइ ॥१९॥

जो शील के स्वामी हैं, जिनके सभी नवीन कर्मों का आस्रव अवरुद्ध हो गया है, तथा जो पूर्वसंचित कर्मों से सर्वथा मुक्त हो चुके हैं, वे अयोगीकेवली कहलाते हैं ।

३२५. लाडअ एरण्डफले, अग्गीधूमे उसू धणुविमुक्के ।

गइ पुव्वपओगेणं, एवं सिद्धाण वि गती तु ॥१॥

जैसे मिट्टी का लेप दूर होते ही तुम्बी ऊपर तैरने लग जाती है, एरण्ड के फल के फूटने पर उसके बीज ऊपर को ही जाते हैं, अग्नि या धूम की गति स्वभावतः ऊपर की ओर होती है, धनुष से छूटा हुआ बाण पूर्व-प्रयोग से गतिमान् होता है, वैसे ही सिद्ध जीवों की गति भी स्वभावतः ऊपर की ओर होती है ।

३२६. कम्ममलविण्णमुक्को, उडुं लोगस्स अंतमधिगंता ।

सो सव्वणाणदरिसी, लहदि सुहमणिदियमणंतं ॥२॥

कर्म-मल से विमुक्त जीव ऊपर लोकान्त तक जाता है और वहाँ वह सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी के रूप में अतीन्द्रिय अनन्तसुख भोगता है ।

३२७. चक्किकुरुफणिसुरेदेसु, अहमिंदे जं सुहं तिकालभवं ।

तत्तो अणंतगुणिदं, सिद्धाणं खणसुहं होदि ॥३॥

चक्रवर्ती, फणीन्द्र, सुरेन्द्र एवं अहमिन्द्रों को त्रिकाल में जितना सुख मिलता है, उस सबसे भी अनन्तगुना सुख सिद्धों को एक क्षण में अनुभव होता है ।

३२८. अट्टुविहकम्मवियडा, सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा ।

अट्टुगुणा कयकिच्चा, लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ॥२१॥

ऐसे सिद्ध जीव अष्टकर्मों से रहित, सुखमय, निरंजन, नित्य, अष्टगुण-सहित तथा कृतकृत्य होते हैं और सदैव लोक के अग्रभाग में निवास करते हैं ।

२६. संलेखनासूत्र

३२९. सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।

संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ॥१॥

शरीर को नाव कहा गया है और जीव को नाविक । यह संसार समुद्र है, जिसे महर्षिजन तैर जाते हैं ।

३३०. धीरेण वि मरियव्वं, काउरिसेण वि अवस्समरियव्वं ।

तम्हा अवस्समरणे, वरं खु धीरत्तणे मरिउं ॥२॥

निश्चय ही धैर्यवान् को भी मरना है और कापुरुष को भी । जब मरण अवश्यम्भावी है, तो फिर धीरतापूर्वक मरना ही उत्तम है ।

३३१. इक्कं पंडियमरणं, छिंदइ जाईसयाणि बहुयाणि ।

तं मरणं मरियव्वं, जेण मओ सुम्मओ होइ ॥३॥

एक पण्डितमरण (ज्ञानपूर्वक मरण) सैकड़ों जन्मों का नाश कर देता है । अतः इस तरह मरना चाहिए, जिससे मरण सुमरण हो जाए ।

३३२. चरे पयाइं परिसंकमाणो, जं किंचि पासं इह मन्नमाणो ।

लाभंतरे जीविय वूहइत्ता, पच्चा परिण्णाय मलावधंसी ॥४॥

साधक पग-पग पर दोषों की आशंका (सम्भावना) को ध्यान में रखकर चले । छोटे-से-छोटे दोष को भी पाश समझे, उससे सावधान रहे । नये-नये लाभ के लिए जीवन को सुरक्षित रखे । जब जीवन तथा देह से लाभ होता हुआ दिखाई न दे तो परिज्ञानपूर्वक शरीर का त्याग कर दे ।

३३३. संलेहणा य दुविहा, अब्भितरिया य बाहिरा चेव ।

अब्भितरिया कसाए, बाहिरिया होइ य सरिरे ॥५॥

संलेखना दो प्रकार की है—आभ्यन्तर और बाह्य । कषायों को कृश करना आभ्यन्तर संलेखना है और शरीर को कृश करना बाह्य संलेखना ।

३३४. न वि कारणं तणमओ संथारो, न वि य फासुया भूमी ।

अप्पा खलु संथारो, होइ विसुद्धो मणो जस्सो ॥६॥

जिसका मन विशुद्ध है, उसका शय्या न तो तृणमय है और न प्रासुक भूमि है । उसकी आत्मा ही उसका संस्तारक है ।

३३५-६. न वि तं सत्थं च विसं च, दुप्पउतु व्व कुणइ वेयालो ।

जंतं व दुप्पउत्तं, सप्पु व्व पमाइणो कुद्धो ॥७॥

जं कुणइ भावसल्लं, अणुद्धियं उत्तमट्टकालम्मि ।

दुल्लहबोहीयत्तं, अणंत-संसारियत्तं च ॥८॥

दुष्प्रयुक्त शस्त्र, विष, भूत तथा दुष्प्रयुक्त यन्त्र तथा क्रुद्ध सर्प आदि प्रमादी का उतना अनिष्ट नहीं करते, जितना समाधिकाल में मन में रहे हुए माया, मिथ्यात्व

व निदान शल्य करते हैं । इससे बोधि की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है तथा संसार का अन्त नहीं होता ।

३३७. सम्महंसणरत्ता, अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा ।

इय जे मरंति जीवा, तेसिं सुलहा भवे बोही ॥९ ॥

जो जीव सम्यग्दर्शन के अनुरागी होकर, निदान-रहित तथा शुक्ललेश्यापूर्वक मरण को प्राप्त होते हैं, उनके लिए बोधि की प्राप्ति सुलभ होती है ।

३३८. मोक्खपहे अप्पाणं, ठवेहि तं चेव झाहि तं चेव ।

तत्थेव विहर णिच्चं, मा विहरसु अन्नन्दव्वेसु ॥१० ॥

अतः हे भव्य ! तू मोक्ष-मार्ग में ही आत्मा को स्थापित कर । उसी का ध्यान कर । उसी का अनुभव कर तथा उसी में विहार कर । अन्य द्रव्यों में विहार मत कर ।

२७. निर्वाणसूत्र

३३९. सव्वे सरा नियडुंति, तक्का जत्थ न विज्जइ ।

मई तत्थ न गाहिया, ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने ॥४ ॥

जहाँ से सारे स्वर लौट जाते हैं, जहाँ तर्क का प्रवेश नहीं है, जिसे बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती, जो ओज-प्रतिष्ठान-खेद रहित है, वही मोक्ष है ।

३४०. ण वि दुक्खं ण वि सुक्खं, ण वि पीडा णेव विज्जदे बाहा ।

ण वि मरणं ण वि जणणं, तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥५ ॥

जहाँ न दुःख है न सुख, न पीड़ा है न बाधा, न मरण है न जन्म, वहीं निर्वाण है ।

३४१. ण वि इंदिय उवसग्गा, ण वि मोहो विम्हयो ण णिद्दा य ।

ण य तिण्हा णेव छुहा, तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥६ ॥

जहाँ न इन्द्रियाँ हैं न उपसर्ग, न मोह हैं न विस्मय, न निद्रा है न तृष्णा और न भूख, वहीं निर्वाण है ।

३४२. ण वि कम्मं णोकम्मं, ण वि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि ।

ण वि धम्मसुक्कझाणे, तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥७ ॥

जहाँ न कर्म है न नोकर्म, न चिन्ता है न आर्त-रौद्र ध्यान, न धर्मध्यान है और न

शुक्लध्यान, वहीं निर्वाण है ।

३४३. विज्जदि केवलणाणं, केवलसोक्खं य केवलं विरयं ।

केवलदिट्ठि अमुत्तं, अत्थित्तं सम्पदेसत्तं ॥८ ॥

वहाँ केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख, केवलवीर्य, अरूपता, अस्तित्व और सप्रदेशत्व—ये गुण होते हैं ।

३४४. निव्वाणं ति अवाहंति, सिद्धी लोगगमेव य ।

खेमं सिवं अणाबाहं, जं चरंति महेसिणो ॥९ ॥

जो अबाध है, सिद्धि है, लोकाग्र है, क्षेम, शिव और अनाबाध है वह निर्वाण है, जिसे महर्षि प्राप्त करते हैं ।

समापन

३४५. एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी, अणुत्तरदंसी अणुत्तरणाणदंसणधरे ।

अरहा नायपुत्ते भगवं, वेसालिए वियाहिए त्ति बेमि ॥१ ॥

इस प्रकार यह हितोपदेश अनुत्तरज्ञानी, अनुत्तरदर्शी तथा अनुत्तर ज्ञानदर्शनधारी अर्हत् ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर ने विशाला नगरी में दिया था ।

३४६. से सव्वदंसी अभिभूयणाणी, णिरामगंधे धिड्ढमं ठियप्पा ।

अणुत्तरे सव्वजंगसि विज्जं, गंथा अतीते अभए अणाऊ ॥२ ॥

वे भगवान् महावीर सर्वदर्शी, सर्वज्ञानी, आत्मस्थित, चारित्रशील, धैर्यवान्, निर्ग्रन्थ, अभय, आयुर्कर्मरहित और सम्पूर्ण जगत् के विद्वानों में अनुत्तर थे ।

३४७. से भूइपण्णे अणिएयचारी, ओहंतलरे धीरे अणंतचक्खू ।

अणुत्तरे तवति सूरिए व, वइरोयणिंदेव तमं पगासे ॥३ ॥

वे वीरप्रभु अनन्तज्ञानी, अनियताचारी थे । संसार-सागर को पार करने वाले, धीर अनन्तदर्शी और सूर्य की भाँति अतिशय तेजस्वी थे । जैसे जाज्वल्यमान अग्नि अन्धकार को नष्ट कर प्रकाश फैलाती है, वैसे ही उन्होंने अज्ञान-अंधकार का निवारण कर सत्यस्वरूप को प्रकाशित किया था ।

३४८. जिणवयणमोसहमिणं, विसयसुह-विरेयणं अमिदभयं ।
 जरामरणवाहिहरणं, खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥४ ॥
 यह जिनवचन विषय-सुख का विरेचन, जरा-मरण रूपी व्याधि का हरण तथा
 सब दुःखों का क्षय करने वाला अमृत तुल्य औषध है ।
३४९. लद्धं अलद्धपुव्वं, जिणवयण-सुभासिदं अमिदभूदं ।
 गहिदो सुग्गइमग्गो, णाहं मरणस्स बीहेमि ॥५ ॥
 जो मुझे पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ, वह अमृतमय सुभाषितरूप जिनवचन आज
 मुझे उपलब्ध हुआ है और तदनुसार सुगति का मार्ग मैंने स्वीकार किया है ।
 अतः अब मुझे मरण का कोई भय नहीं है ।
३५०. णाणं सरणं मे, दंसणं चं सरणं चरिय-सरणं च ।
 तव संजमं च सरणं, भगवं सरणो महावीरो ॥६ ॥
 ज्ञान मेरा शरण है, दर्शन मेरा शरण है, चारित्र मेरा शरण है, तप और संयम मेरा
 शरण है तथा भगवान् महावीर मेरे शरण हैं ।
३५१. जयइ जगजीवजोणी-वियाणओ जगगुरु जगाणंदो ।
 जगणाहो जगबंधू, जयइ जगप्पियामहो भयवं ॥७ ॥
 जगत् की जीव-योनि के विज्ञाता, जगत् के गुरु, जगत् के आनन्ददाता, जगत् के
 नाथ, जगत् के बन्धु, जगत् के पितामह भगवान् सदा जयवन्त हों ।



जैन धर्म : एक परिचय (सार-संक्षेप)

—महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

उद्भव और विकास :

जैन धर्म जीवन-मूल्यों की नैतिक प्रेरणा देने वाला एक स्वच्छ और अहिंसक धर्म है। जैन शब्द 'जिन' से बना है, जिसका अर्थ है विजेता। वे शलाका-पुरुष जिन हैं जिन्होंने अपने विकारों और कषायों को जीतकर पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया है। जैन वह है जो 'जिन' अर्थात् 'वीतराग' द्वारा प्ररूपित मार्ग का अनुसरण करता है।

जैन धर्म अनादि है और सृष्टि के साथ ही आविर्भूत हुआ है। यह धर्म जितना प्राचीन है उतना ही सजीव, सक्रिय एवं प्रगतिशील भी रहा है। इसके प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हैं। जिस विकसित युग में हम जी रहे हैं उसके विकास का प्रथम श्रेय ऋषभदेव को ही है। उन्होंने मानवता को एक ओर जहाँ आध्यात्मिक उन्नति की प्रेरणा दी, वहीं दूसरी ओर लोक-जीवन के बहुमुखी विकास में भी मार्गदर्शन दिया। जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर २६०० वर्ष पूर्व हो गये हैं। तथागत बुद्ध इन्हीं के समकालीन थे। भगवान् के २५० वर्ष पूर्व तेइसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ हुए हैं जिनका निर्वाण सम्पन्न शिखर (बिहार) में हुआ था। अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर का नाम विशेष रूप से इसलिए लिया जाता है क्योंकि समय के साथ-साथ उन्होंने धर्म को एक निश्चित सूत्र में बाँधा।

संदेश और अवदान :

जैन धर्म ने सम्पूर्ण मानव जाति को मुख्य रूप से पाँच संदेश दिये हैं अहिंसा—किसी को कष्ट या हानि न पहुँचाओ, सत्य—झूठ से परहेज रखो, अचौर्य—बिना दिये किसी चीज को स्वीकार न करो, अपरिग्रह—जरूरत से ज्यादा संग्रह मत करो और ब्रह्मचर्य—अपनी पवित्रता को कायम रखो। भगवान् की ये पाँच शिक्षाएँ जहाँ समाज के सुसंचालन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं वहीं मनुष्य को

जीवन-मूल्यों की दृष्टि से ऊँचा उठाती हैं। ये शिक्षाएँ मानव-मात्र के लिए स्वीकार्य और श्रेयस्कर हैं।

भगवान् महावीर की शिक्षाओं में रत्नत्रय का भी प्रमुख स्थान है। रत्नत्रय इस प्रकार है : सम्यग्दर्शन—अपनी दृष्टि को निर्मल करो, सम्यग्ज्ञान—जीवन और जगत के सत्य को जानो और सम्यग्चारित्र—अपने आचार-व्यवहार को संतुलित और संयमित बनाये रखो। महावीर का यह रत्नत्रय जैन-धर्म की मूल धुरी है। यदि हम भगवान् की इन शिक्षाओं का आचमन करें तो हम समाज में रहते हुए न केवल सुख-शान्ति-पूर्वक जीवन-यापन कर सकते हैं, वरन् निर्वाण-लाभ भी प्राप्त कर सकते हैं।

मत और सम्प्रदाय :

जैन धर्म के मुख्य दो सम्प्रदाय हैं—श्वेताम्बर और दिगम्बर। कुछ विधि-विधानों एवं मान्यताओं में मतभेद होने के कारण ये दोनों परम्पराएँ विकसित हुईं, लेकिन मूल सिद्धान्तों की दृष्टि से इनमें कोई विशेष फर्क नहीं है। जो मतभेद हैं, वे इस प्रकार हैं—दिगम्बर सम्प्रदाय में मोक्ष-प्राप्ति के लिए नग्नता को अनिवार्य माना गया है, जबकि श्वेताम्बर इसे आवश्यक नहीं मानते और वे एक विशेष ढंग के श्वेत वस्त्र धारण करते हैं। दिगम्बर स्त्री-मुक्ति का निषेध करते हैं, जबकि श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में न केवल स्त्री-मुक्ति को स्वीकार किया गया है, बल्कि यह माना गया है कि जैन धर्म के उन्नीसवें तीर्थंकर मल्ली नारी ही थी। स्थानकवासी और तेरापंथ के नाम से प्रचलित दो सम्प्रदाय भी श्वेताम्बर जैन परम्परा के ही अंग हैं। इन दोनों परम्पराओं के अनुयायी मुँह पर मुखवस्त्रिका का उपयोग करते हैं। इनके अतिरिक्त जैन धर्म के समस्त अनुयायी मंदिर-मार्ग का अनुगमन करते हैं। वे जैन मंदिरों में तीर्थंकरों की मूर्तियों की पूजा करते हैं। वैसे दिगम्बर-परम्परा में भी बीसपंथी और तेरहपंथी दो मत हैं।

तीर्थ एवं कला :

तीर्थ जैन परम्परा के पवित्र स्थल हैं। तीर्थ का अर्थ है—भव-सागर को पार करना। अर्थात् जिसने इसे पार कर लिया हो उसे तीर्थंकर कहते हैं। जैन लोग तीर्थंकरों के पवित्र स्थानों की यात्रा और पूजा करते हैं और ऐसा करके अपने जन्म को सफल मानते हैं। पालीताना, सम्मेत शिखर, गिरनार, पावापुरी, आबू, श्रवण बेलगोला, शंखेश्वर, राणकपुर, जैसलमेर, नाकोड़ा आदि जैन धर्म के प्रमुख तीर्थ और पवित्र स्थान माने जाते हैं। पालीताना में मंदिरों का वैभव गोमटेश में स्थित भगवान् बाहुबली की गगन चूमती विशाल प्रतिमा, देलवाड़ा (आबू) के मंदिरों की बारीक कोरणी और राणकपुर के बेमिसाल

खम्भे जैन तीर्थों को कला की दृष्टि से और ऊपर उठाते हैं ।

धर्म-ग्रन्थ :

आगम और अनुयोग जैन परम्परा के पूज्य ग्रन्थ हैं । इनमें तीर्थंकरों की वाणी को संकलित किया गया है । आचारांग, उत्तराध्ययन, भगवती सूत्र, समयसार, अष्ट पाहुड़ आदि विशेष उल्लेखनीय शास्त्र हैं । कल्पसूत्र की महिमा तो इतनी है कि इसका जैन समाज में वाचन और श्रवण महोत्सवपूर्वक होता है । जैसलमेर, पाटन आदि नगरों में विशाल ज्ञान भण्डार हैं जहाँ जैन धर्म के हजारों ग्रन्थ ताड़पत्र इत्यादि में लिखे हुए सुरक्षित हैं । कुछ प्राचीन ग्रन्थों में तो रत्न-जड़ित स्वर्णचित्र भी उपलब्ध हैं । समणसुत्त प्रतिनिधि ग्रन्थ है । 'जिनसूत्र' उसी का जनसुलभ संस्करण है ।

पर्व एवं मंत्र :

'नवकार मंत्र' जैन धर्म का महामंत्र है और 'पर्युषण' इसका महापर्व । महामंत्र ने जैन धर्म की विभिन्न शाखाओं को एक सूत्र में जोड़ रखा है । पर्युषण महापर्व भाद्रपद माह में निरन्तर आठ दिन तक मनाया जाता है । दिगम्बर परम्परा में यह पर्व दस दिवसीय होता है । जिसके दौरान जैन लोग यथाशक्ति अधिकाधिक दान, सामायिक, प्रतिक्रमण, शास्त्र-श्रवण एवं पूजा-पाठ आदि करते हैं । वे इस महापर्व में अहिंसा का पूर्ण पालन करने के लिए रात को भोजन नहीं करते एवं फल तथा हरी सब्जियाँ भी नहीं खाते हैं । इस पर्व का अन्तिम दिन 'संवत्सरी' कहलाता है जिसे मनाकर जैन वर्षभर में जाने-अनजाने की गई गलतियाँ और मानहानि के लिए परस्पर क्षमा-प्रार्थना करते हैं ।

जैनत्व का वरण :

जैन धर्म की यह मूलभूत सिखावन रही है कि कोई भी व्यक्ति न तो जन्म से ब्राह्मण होता है, न क्षत्रिय, न वैश्य और न शूद्र । फिर कोई मात्र जन्म से जैन कैसे हो सकता है ! हमारा देश कर्म-प्रधान है और जैन धर्म कर्म को ही मनुष्य की अवनति या उन्नति का आधार मानता है । वे सब लोग जैन हैं जो भगवान् महावीर की आस्थाओं में विश्वास रखते हैं और उनके कल्याण-मार्ग पर चलते हैं ।

मंगल भावना :

सर्व मंगल मांगल्यम्, सर्व कल्याण-कारणम् ।
प्रधानम् सर्वधर्माणाम्, जैनं जयति शासनम् ॥



नाकोड़ा तीर्थ : संक्षिप्त परिचय

राजस्थान की मरुधरा पर निर्मित नाकोड़ा तीर्थ महिमा-मंडित पुण्यमयी गरिमा को लिये हुए है। यह सर्वमान्य बात है कि इस तीर्थ-स्थली पर श्रद्धालुओं द्वारा इतना कुछ न्यौछावर किया जाता है कि यहाँ की आय से न केवल अन्य छोटे-मोटे तीर्थों की व्यवस्था संचालित होती है, वरन् अनेकानेक विद्यालय, महाविद्यालय, चिकित्सालय, धर्मशालाएँ भी निर्मित एवं प्रबंधित हो रही हैं। भगवान श्री पार्श्वनाथ एवं तीर्थरक्षक अधिष्ठायक श्री भैरवजी महाराज की महिमा इतनी जग-विख्यात है कि भक्तों द्वारा इन्हें 'हाथ-का-हजूर' और 'जागती-ज्योत' माना जाता है। यहाँ के हजारों चमत्कारी प्रसंग हैं। यहाँ के नाम से की गयी मनोकामना पूरी होती है। आम जनता की यह मान्यता है कि यहाँ पर चढ़ाया गया प्रसाद तीर्थ के संभाग के अन्तर्गत ही वितरित कर देना चाहिये। तीर्थ के परिक्षेत्र से प्रसाद को कहीं और ले जाना उचित नहीं माना जाता।

ऐतिहासिक सन्दर्भों के अनुसार नाकोड़ा का सम्बन्ध विक्रम पूर्व तीसरी शताब्दी में हुए नाकोरसेन नामक व्यक्ति से है। नाकोरसेन ने ही नाकोर नगर बसाया था, जो आगे जाकर नाकोड़ा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। नाकोरसेन ने यहाँ एक मन्दिर बनवाया था, जिसकी प्रतिष्ठा आचार्य स्थूलिभद्र के करकमलों से सम्पन्न हुई थी।

नाकोड़ा तीर्थ पर कई महान् आचार्य एवं नरेश यात्रार्थ आए, जिनमें आचार्य सुहस्तिसूरि, सिद्धसेन दिवाकर, मानतुंगाचार्य, कालकाचार्य, हरिभद्रसूरि और राजा संप्रति तथा राजा विक्रमादित्य के नाम उल्लेखनीय हैं। जैनाचार्यों ने इन नरेशों के द्वारा इस तीर्थ का जीर्णोद्धार भी करवाया था। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में इस तीर्थ पर मुस्लिम शासकों के आक्रमण भी हुए, जिसमें मंदिरों को भारी क्षति पहुँची। पन्द्रहवीं शताब्दी में तीर्थ का पुनः निर्माण हुआ। अभी भगवान श्री पार्श्वनाथ की जो प्रतिमा प्रतिष्ठित है, उसका प्रतिष्ठापन सं. १४२९ में हुआ। एक मान्यता के अनुसार यह प्रतिमा नाकोर नगर से प्राप्त होने के कारण यह नाकोड़ा पार्श्वनाथ के रूप में प्रसिद्ध हुई, जबकि प्राचीन परम्परागत किवदंती के अनुसार जिनदत्त नामक श्रावक द्वारा सिणधरी गाँव के

पास एक सरोवर से इसे प्राप्त किया गया था और आचार्य श्रीउदयसूरि के करकमलों से इसकी प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई थी ।

यहाँ के जो प्रगट प्रभावी अधिष्ठायक देव श्री भैरवजी महाराज हैं, उनकी स्थापना सं. १५११ में आचार्य कीर्तिरत्नसूरि द्वारा की गई थी । नाकोड़ा भैरव की स्थापना के बाद तीर्थ की निरंतर समृद्धि होती रही । यहाँ के चमत्कार जनमानस में घर करते गये । देश-देशान्तर से श्रद्धालु आते रहे । समय-समय पर तीर्थ का नव-निर्माण और जीर्णोद्धार भी होता रहा है ।

सतरहवीं शताब्दी तक तीर्थ पर जैनों की विपुल जनसंख्या रही, किन्तु बाद में यहाँ के निवासी नाकोड़ा के समीपवर्ती अन्य गाँवों तथा नगरों में जाकर बस गये ।

भारत के कोने-कोने से प्रतिदिन सैंकड़ों-हजारों यात्रियों का यहाँ पहुँचना, अपने व्यवसाय तक में नाकोड़ा भैरव के नाम से भागीदारी रखना भैरव देव के प्रति अनन्य श्रद्धा का परिचायक है । पौष कृष्णा दशमी, जो भगवान पार्श्वनाथ की जन्म-तिथि है, को यहाँ विराट मेला आयोजित होता है ।

मूल मंदिर के आस-पास छोटे-बड़े कई अन्य मंदिर भी हैं । मंदिर के दायीं ओर साँवलिया पार्श्वनाथ की भव्य प्रतिमा विराजमान है । इस कक्ष में माँ सरस्वती, दादा जिनदत्त सूरि, आचार्य कीर्तिरत्नसूरि आदि की प्रतिमाएँ भी प्रतिष्ठित हैं । मूल मंदिर के पृष्ठ भाग में भगवान आदिनाथ का भव्य मंदिर है । इस मंदिर का परिकर अत्यन्त कलात्मक है ।

मूल मंदिर के बाहर दायीं ओर श्री शांतिनाथ भगवान का भव्य मंदिर निर्मित है, जहाँ भगवान श्री पार्श्वनाथ एवं शांतिनाथ के पूर्वभव संगमरमर पर उत्कीर्ण हैं । मूल मंदिर के बाहर भगवान श्री नेमिनाथ की दो प्राचीन प्रतिमाएँ ध्यानस्थ मुद्रा में खड़ी हैं । प्रतिमा की सौम्य मुखाकृति को देखकर मन मंत्र-मुग्ध हो जाता है । इसी मंदिर में दादा जिनदत्त सूरि की प्राचीन चरण-पादुकाएँ प्रतिष्ठित हैं । मंदिर के पृष्ठ भाग में छोटा, पर खूबसूरत सिद्धचक्र मंदिर है । यात्रियों की सुविधा के लिए विशाल धर्मशालाएँ हैं, जहाँ हजारों यात्री एकमुश्त ठहर सकते हैं । विशाल भोजनशाला के अतिरिक्त तीर्थ के परिसर के बाहर महावीर कला मंदिर दर्शकों का मन मोहता है, जहाँ भगवान् महावीर के जीवन से सम्बन्धित प्रेरणादायी एवं नयनाभिराम भव्य चित्रों का आकलन हुआ है । यहाँ का 'मंगल कलश स्तम्भ' एवं 'दादावाड़ी' भी दर्शनीय है । हाल ही यहाँ करोड़ों की लागत

सिद्धान्तों की कलात्मक एवं वैज्ञानिक प्रस्तुति होगी । विशाल भूखंड पर निर्मित हो रहा यह समवसरण मंदिर अद्भुत अनुपम होगा । जैन-धर्म व दर्शन के प्रसार-प्रचार के लिए विश्व स्तर का आकर्षण केन्द्र बन सके इस हेतु इसमें जैन उपासना पद्धति, जैन भौतिकी, जैन दर्शन एवं जैन साहित्य तथा दर्शनीय वस्तुओं का विशाल संग्रह होगा । इस समवसरण मंदिर में चार वीथिकाएं होंगी जिनमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र और जैन संग्रहालय की वीथिकाएं रहेंगी । पूर्ण निर्मित होने पर यह समवसरण मन्दिर जैन-संस्कृति का अनुपम दर्शनीय स्थल बन जाएगा ।

चमत्कार और संकट-मोचन के लिए नाकोड़ा तीर्थ जन-जन का आराध्य केन्द्र है । नाकोड़ा भगवान् का स्मरण जीवन-पथ को निर्बाध और प्रशस्त करता है ।



मंगल-गीत

मंगलमय जीवन हो ।

सत्यम् शिवम् सुन्दरम् सबके जीवन का दर्शन हो ॥

कोई नहीं, पराया, सारी धरती को अपनाएँ ।

नहीं सताएँ कभी किसी को, सबको गले लगाएँ ।

शांति, शांति हो, विश्व-शांति हो, प्रगति का सर्जन हो ॥१ ॥

मधुर रहे व्यवहार हमारा, जो औरों से चाहें ।

विपदा में भी कभी न छूटे, हमसे सच्ची राहें ।

सत्य धर्म हो, सत्य विजय हो, सत्य हमारा प्रण हो ॥२ ॥

जिसका जो अधिकार हो उसको, हम क्यों भला चुराएँ ।

हम मानव हैं, मानवता का, मन में दीप जलाएँ ।

कर्मयोग से जो कुछ पाएँ, वही हमारा धन हो ॥३ ॥

छल-प्रपंच से दूर रहें हम, संग्रह पर अंकुश हो ।

लोभ-मोह का रोग निवारें, चित्त हमारा वश हो ।

ऐसा हो सौभाग्य कि हमसे, औरों का पालन हो ॥४ ॥

जीवन में अनुशासन हो, तन निर्मल, मन निर्मल हो ।

‘चन्द्र’ हमारी जीवन-दृष्टि, रोशन हो, मंगल हो ।

मंगल हो, मंगल हो सबका, हर घर सुख-साधन हो ॥५ ॥

श्री चन्द्रप्रभ की विशिष्ट पुस्तकें

ऐसे जिहें : पृष्ठ ११०, मूल्य १५/-

जीने की शैली और कला को उजागर करती विश्व-प्रसिद्ध पुस्तक । स्वस्थ, प्रसन्न और मधुर-जीवन की राह दिखाने वाली प्रकाश-किरण ।

महावीर की साधना के रहस्य : पृष्ठ १००, मूल्य १५/-

भगवान् महावीर के जीवन, सिद्धान्त और रहस्यदर्शी सूत्रों के आधार पर साधना एवं मुक्ति के मौलिक मार्ग का दिग्दर्शन करती पठनीय पुस्तक ।

जागो मेरे पार्थ : पृष्ठ २५०, मूल्य ४०/-

गीता पर दिये गये विशिष्ट आध्यात्मिक प्रवचनों का अनूठा संकलन । गीता की समय-सापेक्ष विवेचना । नई दृष्टि; नया चिन्तन ।

महाजीवन की खोज : पृष्ठ १४०, मूल्य २५/-

धर्म और अध्यात्म का समन्वय स्थापित करता एक सम्प्रदायातीत ग्रन्थ । आचार्य कुंदकुंद, योगीराज आनंदधन एवं श्रीमद् राजचन्द्र के सूत्रों व पदों पर दिये गये अत्यन्त गहन-गंभीर प्रवचन ।

ध्यान का विज्ञान : पृष्ठ १२४, मूल्य २५/-

ध्यान की सम्पूर्ण गहराइयों को प्रस्तुत करता एक अभिनव ग्रन्थ । अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर बहुचर्चित ग्रन्थ ।

न जन्म, न मृत्यु : पृष्ठ १६०, मूल्य ३०/-

मुक्ति और अमरता की खोज में उद्घाटित करती अन्तर्दृष्टि । अष्टावक्र-गीता पर दिये गये अद्भुत, अनुभव-सिद्ध प्रवचन ।

अब भारत को जगना होगा : पृष्ठ १५०, मूल्य ३०/-

उस मानव-चेतना के जागरण का आह्वान जो आज कायर और नपुसंक बन बैठी है । भारतीय दृष्टि एवं मूल्यों को नये सिरे से समझने का एक नवीनतम उपक्रम ।

स्वयं से साक्षात्कार : पृष्ठ १४६, मूल्य १०/-

मन-मस्तिष्क की दूषित ग्रन्थियों को निर्मल करने के लिए ध्यान-शिविर में दिये गये अमृत प्रवचन ।

ऐसी हो जीने की शैली : पृष्ठ १७६, मूल्य ३०/-

जीवन और धर्म-पथ को पुनर्परिभाषित करते हुए जीने की साफ-स्वच्छ राह दिखाती पुस्तक ।

प्राप्ति स्थान

श्री जितयशा फ़ाउंडेशन, ९ सी-एस्प्लानेड रो ईस्ट (रूम नं. २८), कलकत्ता-६९



श्री नाकोड़ा पार्श्वनाथ



श्री नाकोड़ा तीर्थ



श्री नाकोड़ा भैरूजी

दुनिया में कुछ वे लोग हैं, जो किसी भगवत्-पुरुष का दिन-रात नाम-स्मरण किया करते हैं। दूसरे वे हैं, जो महापुरुषों के बताए हुए पवित्र मार्ग पर चलते हैं। भगवान महावीर कहते हैं कि मुझे वे लोग अधिक प्रिय हैं जो मेरे शान्ति और अहिंसा के मार्ग पर निष्ठापूर्वक चलते हैं। मेरे संदेशों को जीना आखिर मेरी पूजा के समान ही है।

भगवान श्री महावीर के 2600 वें जन्म-जयंती वर्ष पर स्वयं उन्हीं की पवित्र वाणी को प्रसारित करने से अधिक पुण्यकारी कृत्य और कौन सा होगा ! भगवान के उपदेश और आदेश तो वर्तमान की आवश्यकता है। जिनसूत्र का पारायण और प्रसारण घर-घर में सदाचार और सद्विचार की गंगा-यमुना पहुँचाने जैसा पुण्यकारी है। हम भगवान के उपदेशों को मनन और आचमन के माध्यम से अपने जीवन में लाते हैं। तः रूपान्तरित-

— श्री चन्द्रप्रभ